Impact Factor: 2.0202 [GIF]

ISSN 2454-2725

वर्ष 4, अंक 42-43, अक्टूबर-नवंबर 2018

बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय
मासिक पत्रिका

सयुंक्त अंक
42-43

जनकृति

अक्टूबर-नवंबर 2018

प्रधान संपादक
डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

संपादन मण्डल

परामर्श मंडल

डॉ. सुधा ओम ढींगरा (अमेरिका),प्रो. सरन घई (कनाडा), प्रो. अनिल जनविजय (रूस), प्रो. राज हीरामन (मॉरीशस), प्रो. उदयनारायण सिंह (कोलकाता), स्व. प्रो. ओमकार कौल (दिल्ली), प्रो. चौथीराम यादव (उत्तर प्रदेश), डॉ. हरीश नवल (दिल्ली), डॉ. हरीश अरोड़ा (दिल्ली), डॉ. रमा (दिल्ली), डॉ. प्रेम जन्मेजय (दिल्ली), प्रो.जवरीमल पारख (दिल्ली), पंकज चतुर्वेदी (मध्य प्रदेश), प्रो. रामशरण जोशी (दिल्ली),डॉ. दुर्गा प्रसाद अग्रवाल (राजस्थान), पलाश बिस्वास (कोलकाता), डॉ. कैलाश कुमार मिश्रा (दिल्ली), प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा (उज्जैन), ओम पारिक (कोलकाता), प्रो. विजय कौल (जम्मू), प्रो. महेश आनंद (दिल्ली), निसार अली (छत्तीसगढ़),

संपादक

कुमार गौरव मिश्रा

सह-संपादक

जैनेन्द्र (दिल्ली), कविता सिंह चौहान (मध्य प्रदेश)

कला संपादक

विभा परमार

संपादन मंडल

प्रो. कपिल कुमार (दिल्ली), डॉ. नामदेव (दिल्ली), डॉ. पुनीत बिसारिया (उत्तर प्रदेश), डॉ. जितेंद्र श्रीवास्तव (दिल्ली), डॉ. प्रज्ञा (दिल्ली), डॉ. रूपा सिंह (राजस्थान), स्व. तेजिंदर गगन (रायपुर), विमलेश त्रिपाठी (कोलकाता), शंकर नाथ तिवारी (त्रिपुरा), बी.एस. मिरगे (महाराष्ट्र), वीणा भाटिया (दिल्ली), वैभव सिंह (दिल्ली), रचना सिंह (दिल्ली), शैलेन्द्र कुमार शुक्ला (उत्तर प्रदेश), संजय शेफर्ड (दिल्ली), दानी कर्माकार (कोलकाता), राकेश कुमार (दिल्ली), ज्ञान प्रकाश (दिल्ली), प्रदीप त्रिपाठी (महाराष्ट्र), उमेश चंद्र सिरवारी (उत्तर प्रदेश), चन्दन कुमार (गोवा)

सहयोगी

गीता पंडित (दिल्ली)
निलय उपाध्याय (मुंबई, महाराष्ट्र)
मुन्ना कुमार पाण्डेय (दिल्ली)
अविचल गौतम (वर्धा, महाराष्ट्र)
महेंद्र प्रजापति (उत्तर प्रदेश)

विदेश प्रतिनिधि

डॉ. अनीता कपूर (कैलिफोर्निया)
डॉ. शिप्रा शिल्पी (जर्मनी)
राकेश माथुर (लन्दन)
मीना चौपड़ा (टोरंटो, कैनेडा)
पूजा अनिल (स्पेन)
अरुण प्रकाश मिश्र (स्लोवेनिया)
ओल्या गपोनवा (रशिया)
सोहन राही (यूनाइटेड किंगडम)
पूर्णिमा वर्मन (यूएई)
डॉ. गंगा प्रसाद 'गुणशेखर' (चीन)

जनकृति

वर्ष 4, अंक 42-43. अक्टूबर-नवंबर 2018

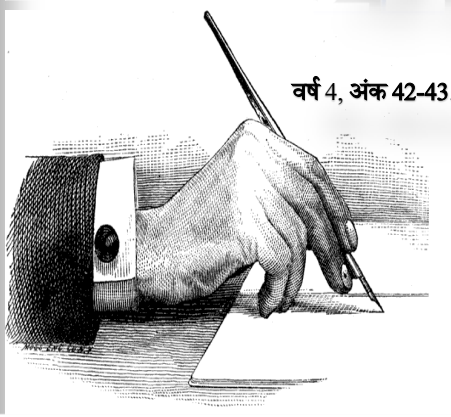

INDEX COPERNICUS INTERNATIONAL

International Journal Impact Factor IJIF

DRJI

CiteFactor Academic Scientific Journals

IIFS International Impact Factor Services

I2OR International Institute of Organized Research (I2OR)

IFSIJ Measure Of Journal Quality

संपर्क

डॉ. कुमार गौरव मिश्रा, 4-a, बागेश्वरी अपार्टमेट, आर्यापुरी, रातू रोड़, रांची, झारखंड, भारत

8805408656

वेबसाई-www.jankriti.org

ईमेल- jankritipatrika@gmail.com

संपादक की कलम से....

आप सभी पाठकों के समक्ष जनकृति का अक्टूबर-नवंबर सयुंक्त अंक प्रस्तुत है। प्रस्तुत अंक में साहित्य, कला, मीडिया, पत्रकारिता, अनुवाद इत्यादि क्षेत्र के विभिन्न विषयों को प्रकाशित किया गया है। जनकृति में साहित्यिक रचनाओं के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों के नवीन विषयों पर आधारित लेख, शोध आलेख प्रकाशित किए जाते है। वर्तमान में आंशिक बदलाव करते हुए सम्पूर्ण अंक में केवल लेख एवं शोध आलेखों को स्थान दिया गया है। यह जनकृति का समान्य अंक है। इससे पूर्व बुजुर्गों पर केन्द्रित विशेषांक, विदेशी भाषा कविता विशेषांक, जल विशेषांक, थर्ड जेंडर विशेषांक, हिंदी पत्रिका विशेषांक, लोकभाषा विशेषांक एवं 21वीं सदी विशेषांक कुल 8 विशेषांक प्रकाशित किए गए हैं। इनके अतिरिक्त पत्रिका के आगामी विशेषांक पूर्वोत्तर भारत विशेषांक, काव्य आलोचना विशेषांक, संपादक एवं संपादकीय विशेषांक, बाल शोषण इत्यादि प्रस्तावित है जिनपर कार्य किया जा रहा है। इन विशेषांकों में लेखन हेतु आपका स्वागत है।

जनकृति वर्तमान में विश्व के दस से अधिक रिसर्च इंडेक्स में शामिल है। इसके अतिरिक्त जनकृति की इकाई विश्वहिंदीजन से विगत दो वर्षों से हिन्दी भाषा सामग्री का संकलन किया जा रहा है साथ ही प्रतिदिन पत्रिकाओं, लेख, रचनाओं का प्रचार-प्रसार किया जाता है। जनकृति की ही एक अन्य इकाई कलासंवाद से कलाजगत की गतिविधियों को आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है साथ ही कलासंवाद पत्रिका का प्रकाशन भी किया जा रहा है। जनकृति के अंतर्गत भविष्य में देश की विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों में उपक्रम प्रारंभ करने की योजना है इस कड़ी में जनकृति पंजाबी एवं अन्य भाषाओं पर कार्य जारी है।

जनकृति के द्वारा लेखकों को एक मंच पर लाने के उद्देश्य से विभिन्न देशों की संस्थाओं के साथ मिलकर 'विश्व लेखक मंच' के निर्माण का कार्य जारी है। इस मंच में विश्व की विभिन्न भाषाओं के लेखकों, छात्रों को शामिल किया जा रहा। इस मंच के माध्यम से वैश्विक स्तर पर सृजनात्मक कार्य किये जाएँगे।

धन्यवाद

-कुमार गौरव मिश्रा

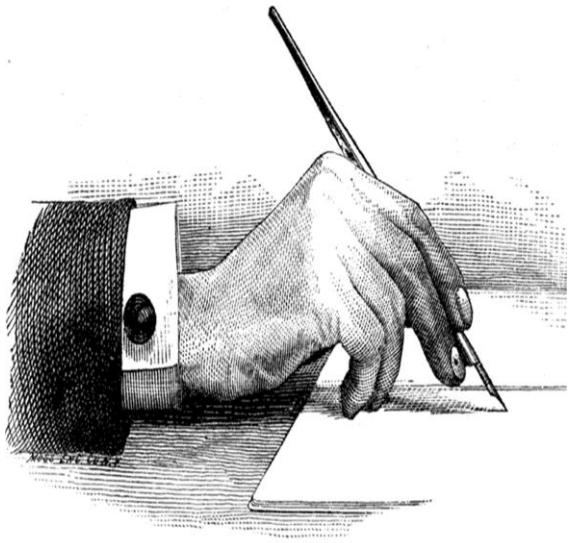

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

इस अंक में ....

कला-विमर्श/ Art Discourse	शोध आलेख एवं लेख	पृष्ठ संख्या
	समकालीन सिनेमा में समाज, संस्कृति और भाषा: ज्ञान चन्द्र पाल [आलेख]	7-16

दलित एवं आदिवासी- विमर्श/ Dalit and Tribal Discourse	शोध आलेख एवं लेख	पृष्ठ संख्या
	हिंदी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समकालीन प्रश्न: बृज किशोर वशिष्ट [शोध आलेख]	17-24
	हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री जीवन और संघर्ष: अजीत कुमार [शोध आलेख]	25-31
	रणेंद्र की कहानियों में दर्ज़ आदिवासियों का दर्द: धीरेन्द्र प्रताप सिंह [शोध आलेख]	32-35
	डॉ आम्बेडकर की दृष्टि और दलित साहित्य का अभ्युदय: मूलचन्द्र गौतम [आलेख]	36-39
	दलित महिलाओं के अभावग्रस्त जीवन में पोषक तत्वों का महत्व: ममता श्रीवास्तव [शोध आलेख]	40-43
	दलित स्त्री लेखन की उपलब्धियां और सम्भावनाएँ: तुपसाखरे श्यामराव पुंडलिक	44-52

स्त्री- विमर्श/ Feminist Discourse	शोध आलेख एवं लेख	पृष्ठ संख्या
	नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में स्त्री-विमर्श: डॉ. कान्ता ढ़िल्लन [शोध आलेख]	53-56
	स्त्री की दुनिया बरास्ते 'मुझे चाँद चाहिए': दीप्ती मिश्रा [शोध आलेख]	

भाषिक- विमर्श/ Language Discourse	शोध आलेख एवं लेख	पृष्ठ संख्या
	हिंदी भाषा: अस्मिता और संभावनाएँ : डॉ० मजीद शेख [शोध आलेख]	57-60
	भाषिक कौशल स्वरूप एवं संकल्पना: प्रा. डॉ. योगेश व्ही दाणे [शोध आलेख]	61-65

शिक्षा- विमर्श/ Education Discourse	शोध आलेख एवं लेख	पृष्ठ संख्या
	सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत ग्रामीण बालिका शिक्षा की वर्तमान स्थिति-एक अध्ययन: सत्येन्द्र कुमार पाल [शोध आलेख]	66-69

समसामयिक विषय/ Current Affairs	शोध आलेख एवं लेख	पृष्ठ संख्या
	भारतीय लोकतंत्र में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने की प्रासंगिकता: अरविन्द प्रसाद गोंड [शोध आलेख]	70-73
	मॉब लिंचिंग - कौन है ज़िम्मेदार, क्या है समाधान: अवधेश कुमार 'अवध' [आलेख]	74-75
	वैश्विक तापमान कारण और निवारण: मनीषा जोबन देसाई [आलेख]	76
	साइबर हैकिंग: जुनैद मलिक अत्तारी	77-79

शोध आलेख/ Research Article	शोध आलेख	पृष्ठ संख्या
	कवींद्र-रवींद्र और उनके विमर्श: कृष्ण कुमार यादव	80-86
	मुक्तिबोध : काव्य भाषा के शिल्पकार: डॉ. संजय प्रसाद श्रीवास्तव	87-91
	नागार्जुन: जन को समर्पित कवि	92-93

	साम्प्रदायिकता और तमस: डॉ. नवाब सिंह	94-103

शोध आलेख/ Research Article	शोध आलेख	पृष्ठ संख्या
	मनीषा कुलश्रेष्ठ के कहानी-संग्रह 'कठपुतलियाँ' में चित्रित यथार्थ: प्रियंका चाहर	104-107
	कल, आज और कल को गुनते-बुनते कवि केदारनाथ सिंह: प्रोमिला	108-115
	कहानी का बदलता परिदृश्य और लम्बी कहानी: विवेक कुमार चौरसिया	116-120
	विष्णु प्रभाकर के कथा साहित्य के सांस्कृतिक आयाम (संस्कार, निशिकांत (उपन्यास) और आश्रिता (कहानी) के विशेष सन्दर्भ में): केवल कुमार	121-128

अनुवाद/ Translation	शोध आलेख	पृष्ठ संख्या
	नोबेल पुरस्कार विजेता जर्मन लेखक व कवि ग्युंटर ग्रास की कुछ कवितायें: रूपांतर – उज्ज्वल भट्टाचार्य	129-131
	दयानंद कनकदंडे जी की अनुदित कविताएँ अनुवाद – प्रेरणा उबाळे	132-133

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

समकालीन सिनेमा में समाज, संस्कृति और भाषा

ज्ञान चन्द्र पाल

भारत एक बहुभाषी, बहुभौगोलिक स्थिति और बहुसंस्कृतियों वाला देश है। इसकी खूबसूरती इसके विविधता में ही निहित है। जिस प्रकार एक बगीचा विभिन्न रंग के पुष्पों से सुशोभित होता है; उसी प्रकार भारत की शोभा विभिन्न भाषा और संस्कृतियाँ हैं। इसी कारण हमारे पूर्वजों ने इसकी विविधता में एकता की कल्पना की थी। भिन्न भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ के लोगों की भाषा भी भिन्न है। आजादी के समय भाषागत दूरी को दूर करने तथा आपस में मेल मिलाप के लिए संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का विकल्प सामने आया था। तब से अभी तक यह विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से सम्पूर्ण भारत को आपस में एक दूसरे को समझने के लिए प्रयास में लगी हुई है। इसके इस प्रयास को पूर्ण करने में हिंदी सिनेमा का महत्वपूर्ण योगदान है। यह निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा को भारत ही नहीं अपितु विश्व तक पहुँचाने में सिनेमा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जहाँ एक ओर भारत सरकार हिंदी को आजादी के समय से आज तक राष्ट्रभाषा का दर्जा तक नहीं दिला पाई है, वहीं हिंदी सिनेमा उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक सभी लोगों को हिंदी बोलना और समझना सिखा रहा है। यह हिंदी सिनेमा की ही देन है जो अहिंदी प्रदेशों में भी लोग इसे बोल और समझ लेते हैं। मैंने अपने तमिल भाषी मित्र से जब यह पूछा कि आप हिंदी कैसे सीखते हो तो उसने इसका श्रेय हिंदी सिनेमा को ही दिया था। हिंदी भाषा के साथ-साथ सिनेमा भारतीय समाज और संस्कृति को देखने और समझने का बेहतर विकल्प है। जिस प्रकार प्रेमचंद के साहित्य को पढ़कर हिंदी पट्टी को बहुत ही आसानी से समझा जा सकता है, उसी प्रकार भारतीय सिनेमा के माध्यम से भारतीय समाज को आसानी से समझा जा सकता है। इस प्रकार भारतीय सिनेमा आज भारतीय समाज का आईना बनता जा रहा है।

सिनेमा भारतीय संस्कृति को विदेशों में पहुंचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। आज विदेशी लोग भारत के होली, दीपावली, रक्षाबंधन आदि त्योहारों को सिनेमा के माध्यम से ही जान पाए हैं। इस प्रकार आज का सिनेमा भाषा के लोक पक्ष को छूते हुए समाज की नई परिभाषा गढ़ने में सक्षम हो रहा है। सिनेमा की इसी सेवा को उद्घाटित करते हुए राज्य सभा सदस्य आर. के. सिन्हा कहते हैं- "क्या यह भी किसी को बताने की जरूरत है कि राज कपूर ने अपनी फिल्मों के माध्यम से हिंदी की कितनी सेवा की है। एक दौर में सोवियत संघ की जनता राज कपूर की आवारा से लेकर श्री 420, मेरा नाम जोकर समेत तमाम फिल्मों को इसलिए पसंद करती थी, क्योंकि उनमें भविष्य को लेकर एक संभावना का संदेश मिलता था।"[i]

एक समय था जब दर्शकों को गोविंदा के ठुमके, अमिताभ बच्चन का करिश्माई शहंशाह रूप और सनी देओल का ढाई किलो का हाथ पसंद था। भारतीय दर्शकों को उस समय अपनी समस्त समस्याओं को दूर करने वाले किसी चमत्कारी नायक की अपेक्षा रहती थी। वे अपनी समस्त समस्याओं को 'शोले' के वीरू और जय पर छोड़कर सिर्फ तमाशा देखने के पक्ष में रहते थे। उन्हें अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर भरोसा नहीं रह गया था। कालांतर में दर्शकों का यह मोह टूटा और वे अपनी समस्याओं को सामूहिक रूप से हल करने का प्रयास किया। समस्याओं को सामूहिक रूप से हल करने का तजुर्बा लेकर आशुतोष गोवारीकर की सन् 2001 में प्रदर्शित फिल्म 'लगान' आई। इस फिल्म ने अपनी सफलता से सभी निर्माताओं और निर्देशकों को नए विषय पर सोचने के लिए बाध्य किया। फिल्म में परतंत्र भारत में अंग्रेजों से लगान की छूट लेने के लिए किसानों को सामूहिक संघर्ष करते हुए दिखाया गया है। अनुषा

रिजवी के निर्देशन में सन् 2010 में बनी 'पीपली लाइव' ने तो सभी दर्शकों के फिल्म देखने के स्वाद को ही बदल दिया। अब वे समझने लगे कि सिर्फ प्यार-मुहब्बत और लटके-झटके देखना ही फिल्म देखना नहीं है। फिल्म वह भी है जो आपको अपने समाज की सच्चाई को दिखाकर उसे बदलने के लिए विवश करे। इस फिल्म में गरीबी और भुखमरी से विवश होकर आत्महत्या करने वाले किसान को दिखाया गया है। इस फिल्म में भारतीय समाज के दो ऐसे पक्ष को दिखाया गया है जिसमें एक पक्ष आत्महत्या करने को विवश है तो दूसरा उसकी आत्महत्या पर राजनीति की रोटियाँ सेकने को तत्पर है।

वैसे तो लगभग सभी फिल्मों में कम या अधिक भारतीय भाषा, समाज और संस्कृति मुखरित होती है पर कुछ ऐसी फिल्में हैं जो समाज के कुछ अनछूए पहलू को दिखाकर उसे सोचने के लिए मजबूर करती हैं। वे फिल्में निम्न हैं-

हिंदी मीडियम (19-5-2017)

कहने को तो यह फिल्म भारत की शिक्षा व्यवस्था की असमानता और उसमें उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के अधिकार को हड़पने के षड्यंत्र पर आधारित है, पर इसमें दो ऐसे वर्ग को दिखाया गया है जो शिक्षा के लिए संघर्षरत हैं। एक वर्ग जो सभी प्रकार से सम्पन्न है वह शिक्षा को पाने के लिए निम्न वर्ग का व्यक्ति बनने का नाटक करता है और दूसरा वह वर्ग जो निम्न वर्ग का होते हुए शिक्षा के द्वारा उच्च वर्ग में सम्मिलित होने का आकांक्षी है। भारतीय समाज स्वतंत्रता के पूर्व वर्ण आधारित था। समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक वर्णों में बांटा गया था। स्वतंत्रता के पश्चात संविधान में सभी के साथ एक जैसा व्यवहार करने के लिए कानून का निर्माण किया गया। सभी के लिए समान रूप से शिक्षा, स्वास्थ्य और क्षमता अनुसार रोजगार उपलब्ध करवाने का सरकार द्वारा वादा किया गया। पर देखते ही देखते सरकार का यह वादा सिर्फ छलावा साबित हुआ। शिक्षा के क्षेत्र ने दो प्रकार के समाज का निर्माण किया। एक शिक्षा समाज के उन लोगों को सभी प्रकार की आधुनिक सुविधाओं से संपन्न और सुसज्जित इमारतों में दी जाती है जिनकी संख्या समाज में सिर्फ पाँच प्रतिशत है। दूसरी शिक्षा किसी टूटी, बरसात में पानी की बूँद टपकती सरकारी इमारत या फिर किसी पेड़ के नीचे समाज के पंचानबे प्रतिशत लोगों को दी जाती है। शिक्षा का यह विभेद आगे चलकर विद्यार्थियों में हीन भावना के जन्म का कारण बनता है। इस फिल्म की नायिका अपनी बेटी का हिंदी मीडियम की किसी स्कूल में पड़ने के कारण आए इसी हीन भावना की चिंता अपने पति से बार-बार करती है। सम्पूर्ण फिल्म समाज के दो ऐसे वर्ग का चित्रण करती है जो आधुनिक अंगेजी शिक्षा को पाने के लिए संघर्षरत हैं। फिल्म का प्रथम दृश्य ही पंजाबी भाषा के टंकारयुक्त संवादों से शुरू होता है-

"की बहेन जी! सारे नवे डिजाइन पुराने हो गए त्वड्डी वेट कर-करके। तू सि हू न आयो। ऐ कोई गल हैगी? अरे रहन देव। हमारी कोई उमर है नई डिजाइन पहनने की? अब तो ये नई जनरेशन स्टाइल मारेगी।"

उपरोक्त संवाद में पंजाबी और अंग्रेजी का मिश्रण बहुत आसानी से देखा जा सकता है। भारत में पंजाबी ही नहीं बल्कि सभी भाषाओं में अंग्रेजी बड़ी ही आसानी से अपनी जगह बनाने में सफल होती जा रही है। चिंता तो इस बात की है कि आने वाली पीढ़ी को किसी भी हिंदी शब्द का अर्थ अंग्रेजी में न समझाना पड़े। खैर! भाषा सदैव परिवर्तनशील रही है। इसका परिवर्तन किसी के भी रोके से नहीं रुक सका है। वैदिक संस्कृत से हिंदी तक का क्रम इसी प्रकार चलता आया है और आगे भी इसी प्रकार चलता रहेगा।

यह फिल्म भारतीय समाज के दो वर्गों का चित्रण बहुत ही बारीकी से करती है- एक वह वर्ग जिसके लिए प्रत्येक गाँव में सरकार द्वारा प्राथमिक पाठशाला का निर्माण करवाया गया है। उसके बच्चे

इन्हीं पाठशालाओं से पढ़कर आगे चलकर उच्च वर्ग के बच्चों के साथ प्रतियोगिता में बैठने की हिमाकत करते हैं। दूसरा वर्ग वह जिनके लिए आधुनिक सुविधाओं से परिपूर्ण आधुनिक शिक्षा और उसकी माँग को ध्यान में रखते हुए कानवेंट स्कूलों का निर्माण करवाया गया है। जो लोग अपने पैसे और पहुँच के बल पर अंग्रेजी माध्यम पर आधारित भारत की इन स्कूलों में अपने बच्चों का दाखिला करवा लेते हैं, वे अन्यों को अपने से छोटा समझने लगते हैं। सूरज वैली हाई स्कूल, क्रॉसरोड स्कूल, दिल्ली ग्राम स्कूल और प्रकृति स्कूल ऐसे ही विद्यालय हैं जिनमें बच्चों का एडमिशन करवाने के लिए फॉर्म हेतु न सिर्फ आधी रात से लाइन में खड़ा होना पड़ता है बल्कि ऊँची पहुँच वाले मंत्री की सिफ़ारिश की भी जरूरत होती है। इसके बरक्स सरकारी स्कूल के गंदे और टूटे शौचालय तथा फर्श पर ही बैठे बच्चे उसकी दयनीय स्थिति की कहानी स्वतः बयां कराते हैं। यह सिर्फ सरकारी विद्यालयों की ही स्थिति नहीं है बल्कि देश के विश्वविद्यालय की स्थिति इससे कहीं अधिक खराब है। हाल ही में एन. डी. टी. वी. द्वारा दिखाए गए विश्वविद्यालय एपिसोड से यहाँ के विश्वविद्यालयों की वास्तविक स्थिति को हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। सम्पूर्ण फिल्म समाज में अपने को श्रेष्ठ समझने के लिए इन स्कूलों में बच्चे का दाखिला करवाने के जोड़-तोड़ और संघर्ष पर आधारित है। फिल्म की नायिका मीता बत्रा की सम्पूर्ण चिंता का विषय यही है- "सरकारी स्कूल में जाएगी तो कुछ नहीं सीख पाएगी। बेचारी बड़ी होके हर जगह बात करने में डरेगी। कोई अंग्रेजी में बात करेगा तो उसकी रूह काँप जाएगी। फिट नहीं हो पाएगी न सुसाइटी में; तो डिप्रेस हो जाएगी। और उसने ड्रग्स लेना शुरू कर दिया तो?... इस देश में अंग्रेजी जबान नहीं है, क्लास है राज क्लास। और इस क्लास में घुसने के लिए एक अच्छे स्कूल में पढ़ने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है"

उपरोक्त संवाद भारतीय समाज को समझने के लिए काफी है। भारत का एक समाज अंग्रेज़ीदां समाज है जो अपने सारे कार्य अंग्रेजी में ही करता है। जहाँ भारत का आम समाज दिन के तीनों वक्त भोजन लेता है वहीं इस वर्ग के लोग ब्रेकफ़ास्ट, लंच और डिनर लेते हुए देखे-सुने जा सकते हैं। इतना ही नहीं कभी-कभी दूसरे वर्ग पर अपनी धौंस जमाने के लिए भी यह वर्ग अपने अंग्रेज़ीदां शब्दों से उसे फटकारने की कोशिश करता है। फिल्म में दिल्ली का असली चेहरा तब आता है जब राज बत्रा अपनी बेटी को स्कूल में आरक्षित सीट से दाखिला दिलाने के लिए भारत नगर के गंदी बस्ती में आता है। पूरी फिल्म में तीन प्रकार के समाज का चित्रण किया गया है। एक चाँदनी चौक का वह कस्बा जहां से राज बत्रा के बसंत बिहार जाते समय सारे पड़ोसी नम आँखों से राज बत्रा और उसके परिवार की बिदाइ करते हैं। दूसरा बसंत बिहार का मोहल्ला जहाँ बड़े तो क्या बच्चे को भी हिंदी में बात करने की पाबंदी है। तीसरा भारत नगर की गंदी बस्ती है जहाँ की सड़कें कीचड़ से सनी हुई हैं और चिकनगुनिया, टीबी, हैजा और पीलिया जैसे रोगों का स्थायी निवास है। यही वह जगह है जहाँ भारत की अधिकतर जनसंख्या निवास करती है। राशन और पानी के लिए लंबी लाइन में खड़ा होना भारतीयता की पहचान-सी बनती जा रही है। इसमें आम आदमी की कोई पहचान नहीं है। जब राज बत्रा श्याम प्रकाश से उसका नाम पूछता है तो फिल्म का एक संवाद सारे निम्न वर्ग की पहचान को व्यक्त कर देता है- "अरे भाई नाम तो बड़े काम वालों का होता है। हमारा कौन-सा नाम? ढाबे पे लग गया छोटू, पेट निकल गया मोटू, कद बढ़ गया लंबू, समान उठा लिया कुली, पेड़ लगाया तो माली, नहीं तो माँ-बहन की गाली..."

वैसे भारतीय समाज झूठे दिखावे का बहुत शौकीन है। अपने दिखावेपन के इसी भुलावे में हम अपनी संस्कृति और भाषा को खोते जा रहे हैं। हमारा शासक भी यहाँ के शहरों को टोक्यो जैसा दिखाने पर

आमदा है। इस दिखावेपन में चाहे उसे देश ही बेचना पड़े इसकी कोई चिंता नहीं है। दिखवापन का नशा लोगों पर इस कदर चढ़ा है कि यदि उनसे कोई हिंदी में बात करता है तो वे इसे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। राज बत्रा और उसका परिवार जब भारत नगर की बस्ती में जाते हैं तो वे इसी दिखावेपन का शिकार होकर फेसबुक पर विदेशों के फोटो पोस्ट करते हैं। यह वह समाज है जो अपने नौकरों की खुशी में ईर्ष्या जनित दुख प्रकट करता है। उन्हें यह बात हमेशा सालती रहती है कि हमारा नौकर कहीं हमसे आगे न बढ़ जाए। यही कारण है कि जब राज बत्रा के नौकर छोटू की लड़की का एडमिशन प्रकृति स्कूल में हो जाता है तो वे दोनों आश्चर्य मिश्रित ईर्ष्या प्रकट करते हैं। जिस खुशी से छोटू अपने बेटी के एडमिशन की खुशी में राज बत्रा के परिवार को मिठाई खिलाने जाता है उसे उतने ही असंवेदनशीलता से दुकान के लिए भेज दिया जाता है। इस फिल्म में जिन दो वर्गों का चित्रण किया गया है उसके प्रतिनिधि राज बत्रा और श्याम प्रकाश हैं। श्याम प्रकाश जिस निम्न वर्ग से आता है वहाँ वह राज बत्रा की बेटी के एडमिशन के लिए कार के आगे कूद जाता है। वहीं राज बत्रा जैसे लोग सरकार द्वारा गरीब बच्चों को शिक्षा का अधिकार के तहत दिये गए अधिकार को भी खा जाते हैं। सम्पूर्ण फिल्म में राज बत्रा जैसे माध्यम वर्ग और श्याम प्रकाश जैसे निम्न वर्ग का बच्चों की शिक्षा के लिए संघर्ष को दिखाया गया है। 'नया गरीब' और 'खानदानी गरीब' जैसे शब्द फिल्म की संवेदना में हास्य का पुट डालते हुए गंभीर चिंतन को बाध्य करते हैं। फिल्म के पात्र श्याम प्रकाश के द्वारा व्यक्ति की आर्थिक स्थिति और उसका नामकरण पर बहुत ही करारा चोट किया गया है। फिल्म के अंत में राज बत्रा द्वारा यद्यपि सरकारी स्कूल के सुधार का प्रयास किया गया है पर यह प्रयास यथार्थ धरातल पर समाज में कहीं दिखाई नहीं देता है। राज बत्रा का अपनी लड़की को श्याम प्रकाश के लड़के के साथ सरकारी स्कूल में भेजने का कार्य भी प्रशंसनीय है। अब देखना यह है की फिल्म से प्रेरणा लेकर कितने राज बत्रा सरकारी स्कूलों की दशा सुधारकर अपने बच्चों को उसमें पढने हेतु भेजते हैं।

टॉइलेट एक प्रेम कथा (11-8-2017)

भारत सहित अनेक देश में लोग आज भी खुले में शौच का प्रयोग करते हैं। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है लोग सुविधानुसार पुराने विचार छोड़कर नए विचार को अपनाते लगते हैं। यही समाज के विकास का क्रम है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी नए विचार या संस्कृति को अपनाने में हम शर्म या गर्व का अनुभव कर सकते हैं। भारत में अंग्रेजी शासन के आने पर यहाँ के कुछ लोग उनकी संस्कृति को अपनाकर एक तरफ गौरवान्वित हो रहे थे वहीं कुछ के लिए यह शर्म की बात थी। पर एक समय ऐसा आया कि हम लगभग सभी लोग अपने धोती-कुर्ता को त्यागकर उनके पैंट-शर्ट को अपना लिए हैं। भारतीय समाज एक सहिष्णु समाज है। इतिहास के विकास क्रम में अनेक संस्कृतियों से इसका मिलाप हुआ है। आर्य, शक, कुषाण हूण, इस्लाम, क्रिश्चयन आदि आकर यहाँ पर अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार किए हैं। इतनी संस्कृतियों से मिलते-मिलते इसकी अपनी संस्कृति खो-सी गई है।

टॉइलेट एक प्रेम कथा सन् 2017 की सामाजिक मुद्दे पर बनी एक श्रेष्ठ फिल्म है। फिल्म की श्रेष्ठता इस बात से भी साबित हो जाती है कि यह माननीय प्रधानमंत्री द्वारा संचालित स्वच्छ भारत अभियान का एक हिस्सा हो सकती है। इस फिल्म के माध्यम से भारतीय समाज के उस रूप का दर्शन करवाया गया है जो आज भी मध्यकाल में जीवन जीने को अपनी शान समझता है। किसी भी समाज का विकास नए मूल्यों की धारणा और पुराने मूल्यों के त्याग पर निर्भर करता है। जो समाज जितना शीघ्र नए मूल्यों को धारण करता है वह उतना शीघ्र विकास के कदम को चूमता है। जो समाज अपनी पुरातन खाल

को छोड़ने का जितना ही मोह करता है उसका विकास उतना ही देर से होता है। भारत सहित विश्व में आज भी लोग प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल में जी रहे हैं। इसमें से बहुत थोड़े लोग हैं जो उत्तर आधुनिक काल में प्रवेश कर गए हैं। यह विचार चर्चित मराठी फिल्म 'सैराट' के निर्देशक नागराज मंजुले ने कपिल शर्मा के एक शो में दिया था। टॉइलेट एक प्रेम कथा में जहाँ केशव कुमार और उसकी पत्नी आधुनिक मूल्यों से प्रभावित है वहीं केशव का पिता पुरातन सोच से प्रभावित होकर घर में शौचालय बनवाये जाने का पुरजोर विरोध करता है। उनके लिए जिस घर में हम रहते हैं वहाँ शौच करना संस्कृति को नष्ट करने के समान है। वहीं खुले में शौच करना उन्हें अपनी संस्कृति का संरक्षण प्रतीत होता है। हद तो तब हो जाती है जब अपनी ही बहू को शौच करते हुए वे देख लेते हैं और घबड़ाहट में उसके सामने ही बाइक पर से गिर जाते हैं। जब बहू इस प्रसंग को लेकर शौच के लिए बाहर जाने का विरोध करती है तो वे बड़ी ही निर्लज्जता से यह कहते हैं कि, "बहू ने मुँह तो ढक लिया था ना।" इसका यही अर्थ हुआ की शौचालय खुले में मुंह ढककर करने में कोई शर्म की बात नहीं है। शर्म की बात तो शौचालय घर में बनवाने पर है। घर में शौचालय बनवाने से उन्हें अपनी संस्कृति और सभ्यता के नष्ट होने की चिंता है। वे कहते भी हैं- "अब हमारी टॉपर बहू को घर में संडास चाहिए? न संस्कृति की समझ न रीति-रिवाजों का ज्ञान ज्यादा पढ़ाई-लिखाई न फेल कर देती है। फेल।"

टॉइलेट एक प्रेम कथा की शुरुआत ऐसे गाँव से होती है जहाँ की महिलाएँ धुंधलके ही शौच के लिए हाथ में लालटेन लेकर निकल पड़ती हैं। इसमें आगरा के मंदगाँव के एक ऐसे परिवार का चित्रण किया गया है जो न केवल पुरानी मान्यताओं पर जीवन गुजर करता है बल्कि नई का विरोध भी करता है। केशव कुमार का विवाह इसलिए नहीं हो रहा है क्योंकि वह मांगलिक है। इसके लिए उसका विवाह भैंस से करवाया जाता है। इसके बाद भी उसके जीवन में विवाह का योग बनता नज़र नहीं आ रहा है। इसका कारण उसकी कुंडली में दोष होना बताया गया है। ये सब कोई और नहीं बल्कि उसके पंडित पिता ही बता रहे हैं। इसके लिए अब उसे किसी ऐसी लड़की से विवाह करना पड़ेगा जिसके बाएँ हाथ में दो अंगूठा हो। भारत में आज भी मंदगाँव जैसे गाँव अनगिनत संख्या में हैं। ये वो गाँव हैं जहाँ असली भारत बसता है। यदि आपको नए और पुराने सोच के संघर्ष का ताना-बाना देखना हो तो आप भारत के किसी भी गाँव में पधार सकते हैं। फिल्म में केशव के पिता जहाँ आज भी वेद-पुराण के अनुसार जीवन जीने के हिमायती हैं वहीं केशव और जया इसमें बदलाव की मांग करते हुए दिखाई देते हैं। केशव के पिता की राधे सायकिल नाम से दुकान है। वहीं वह भी काम करता है। एक बार रेलगाड़ी में उसे जया जोशी नामक लड़की मिलती है जिसके सायकिल की होम डिलिवरी का आर्डर उसके पिता लिए होते हैं। जब वह सायकिल पहुंचाने घर जाता है तो वहाँ उसे फिर जया से मुलाक़ात होती है। केशव गलती से लड़कों वाली सायकिल ले आता है जबकि जया के पिता जया को सरप्राइज़ देने के लिए लड़की वाली सायकिल का आर्डर दिए रहते हैं। जब केशव अपनी भूल सुधार करने के लिए लेडीज सायकिल लाने की बात करता है तो जया कहती है- "कोई बात नहीं जेन्ट्स वाली आ गई मुझे कोई प्राबलम नहीं मै रख लूँगी।" जब केशव जेन्ट्स सायकिल में बीच में डंडा रहने की बात करता है, जिससे उसे परेशानी हो सकती है तो वह उसको मुँह तोड़ जवाब देती है- "1860 में जब सायकिल बनी थी तब औरतें क्या पहनती थीं- ड्रेस। और उनकी सेफ़्टी के लिए बीच का डंडा हटा दिया गया। और अब क्या पहनती हैं... जीन पैंट। तो डंडे से क्या डर?" जया और केशव के बीच का यह संवाद ही भारतीय सोच के बदलाव का प्रतीक है। लंबे समय तक भारतीय स्त्रियाँ साड़ी पहनती आई हैं। वे आज भी विशेष तौर पर गाँवों

में साड़ी ही पहनती हैं। अब फैशन की जरूरत और कार्य करने की सुविधा के अनुसार वे पैंट या जीन पैंट पहनने लगी हैं। हमारे समाज में अभी भी जीन पैंट पहनने वाली लड़कियों को सभ्य नहीं माना जाता है। कुछ खाप पंचायतें और मुल्ले-मौलवी द्वारा अभी भी लड़कियों के जीन पैंट और मोबाइल पर प्रतिबंध लगाने के विचार सुने जा सकते हैं। जया का सायकिल के लिए जीन पैंट पहनने की सुविधा का दिया गया तर्क अकाट्य है। साड़ी में लड़कियां दौड़ भी नहीं सकती हैं जबकि पैंट में वे आसानी से दौड़ सकती हैं। यह हमारे समाज का बदलाव है। आज शायद ही ऐसा कोई शहर होगा जहाँ लड़किया जीन पैंट पहने न दिखाई देती हों। अब यहाँ पर फिल्म में दो सोच वाला परिवार दिखाई देता है। एक केशव के पिता जो उसके मांगलिक दोष को खत्म करने के लिए उसकी शादी भैंस से करवाते हैं, उसके कुंडली दोष के कारण बाएँ हाथ में दो अंगूठे वाली लड़की से ही शादी करने की बात करते हैं। दूसरी जया है जो जीन पैंट पहनकर स्कूल जाती है और घर में शौचालय होना आवश्यक समझती है।

इसी संवाद के बीच दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। इसी बीच होली का त्योहार आ जाता है। यहाँ पर फिल्म में ब्रज की लट्ठमार होली का बड़ा ही मनभावन दृश्य प्रस्तुत किया गया है। बरसाने की लट्ठमार होली आज भी भारत की विशेष परंपरा को सजोए हुए है। फिल्म का यह दृश्य देखकर बरसाने की लट्ठमार होली के गाने के साथ दर्शकों का भी मन झूमने लगता है। यहाँ पर एकबार फिर दोनों की मुलाक़ात होती है। जब वे दोनों एक दूसरे से शादी करने को राजी होते हैं तो बीच में पंडित जी द्वारा कुंडली के दोष निवारण हेतु सुझाया गया दो अंगूठे वाली लड़की की अनिवार्यता बाधा बनती है। इसके लिए वे दोनों एक कृत्रिम अँगूठे का सहारा लेते हैं। यहाँ पर फिल्म में भारतीय समाज के एक और रूप का दर्शन होता है। जब केशव को अपने पिता जी को दिखाने के लिए दो अंगूठे वाली लड़की के कृत्रिम अंगूठा का प्लान सफल होता दिखाई देता है तो वह इस प्लान की सफलता के लिए किसी मंदिर की लेटकर परिक्रमा करता हुआ दिखाई देता है। यही सच्चा भारतीय समाज है जहाँ लोग घर में वैज्ञानिक उत्पाद लाने पर उसकी पूजा धार्मिक विधि से करते हैं। धार्मिक आस्था भारतीय समाज की रगों में बहती है जहाँ वे अपनी प्रत्येक सफलता का श्रेय किसी देवी-देवता को देते हैं। यही कारण है कि वैज्ञानिक विधि से बने किसी पुल का उद्घाटन नारियल फोड़ कर किया जाता है।

जब दोनों का विवाह हो जाता है तो शादी के पहले दिन ही अलसुबह के समय महिलाएँ जया को 'लोटा पार्टी' (शौच के लिए लोटा लेकर बाहर जाना) में आमंत्रित करती हैं। घर में शौचालय का न होना जया पर बुरा प्रभाव छोड़ता है। वह खुले में शौच का विरोध करती है। केशव अपने पिता से घर में शौचालय बनवाने की बात करता है तो वे सिरे से नकार देते हैं। जया का गुस्सा उस दिन सातवें आसमान पर चढ़ जाता है जब एक दिन खुले में शौच करते समय उसके ससुर उसे देख लेते हैं। उस दिन से वह खेत में शौच जाना बंद कर देती है। केशव ने समस्या के निदान के रूप में रेलवे स्टेशन पर 7 मिनट रुकने वाली गाड़ी के शौचालय को उपयोग के रूप में निकाला। एक दिन जब जया रेलगाड़ी के शौचालय का उपयोग कर रही थी तो गाड़ी चल देती है। वह उतर नहीं पाती और अपने घर चली जाती है। इसके बाद शौचालय बनवाने के लिए केशव अनेक प्रयत्न करता है पर वह असफल होता है। जब वह शौचालय के लिए पंचायत में आवेदन करता है तो सभी ग्रामीण लोग उसके शौचालय की मांग का विरोध करते हैं। वह जिलाधिकारी के पास शौचालय की मांग को लेकर जाता है तो उन्तीस हजार करोड़ के शौचालय का घोटाला उसके सामने आता है। साथ ही उसे यह भी पता चलता है कि जिनके घर में शौचालय बने भी हैं उसमें वे लोग पान, सिलाई या बाल काटने की दुकान

खोल लिए हैं। वह अनेक प्रयत्न करता है पर हर जगह उसे सिर्फ आश्वासन ही मिलता है। उसे शौचालय की इस लड़ाई में असली खलनायक का पता तब चलता है जब जिलाधिकारी उसे बताता है- "विलेन कौन है याद रखना केशव। तुम्हारी लड़ाई सभ्यता से है। समझे और सभ्यता पर विजय पाना आसान नहीं है। कठिन परीक्षा है। इस देश में सभ्यता से लड़ना एक कठिन काम है।" वास्तव में आज भी कुछ लोग अपनी पुरानी सभ्यता को इतना मजबूती से पकड़े हुए हैं कि वे चाहते हुए भी इसे नहीं छोड़ पाते हैं। वे अपनी पुरानी सभ्यता के मोह में इस प्रकार चिपके हैं जैसे लिसलिसे गुड़ से चिपकी हुई मक्खी हो। जिलाधिकारी की इस बात ने उसके मस्तिष्क के द्वार खोल देती है। वह घर में शौचालय बनवा लेता है जिसका उसके पिता पंडित जी घोर विरोध करते हैं। एक दिन जब केशव सो रहा होता है तो उसके पिता कुछ आदमी को साथ लेकर शौचालय तोड़ देते हैं। अंततः जया सभी महिलाओं को साथ लेकर शौचालय के लिए एक बड़ा अभियान छेड़ती है। इसी बीच केशव की दादी फिसलकर गिर जाती है और उसके कमर की हड्डी टूट जाती है। अब वह उस टूटे शौचालय में ही शौच करने को बाध्य हो जाती है। धीरे-धीरे शौचालय के लिए महिलाओं का व्यापक प्रदर्शन और दादी की हड्डी टूटने से पंडित जी का भी हृदय परिवर्तन हो जाता है। अंततः वे घर में बहू के लिए शौचालय की अनुमति दे देते हैं।

कहने के लिए यह फिल्म गाँव में शौचालय न होने की समस्या पर आधारित है पर इसके आड़ में यह उन सभ्यताओं और रूढ़ियों की पोल खोलती है जिसकी वजह से आज भी हमारा समाज आगे बढ़ने से रुक जाता है। फिल्म में एक छोटी कहानी और जोड़ी गई है जिसका जिक्र करना अति आवश्यक है- वह है केशव का अपनी मुँह बोली बहन को उसके प्रेमी के साथ भाग जाने का सलाह देना। भारतीय साहित्य में ऐसा प्रसंग कृष्ण के साथ आता है जब वे अपनी बहन सुभद्रा को अपने सखा अर्जुन के साथ भाग जाने की सलाह देते हैं। वैसे हमारे समाज में अनेक लड़कियाँ अपने प्रेमी के साथ आए दिन भाग जाती हैं जो पकड़े जाने पर ऑनर किलिंग का शिकार होती हैं। 2016 में आई मराठी फिल्म सैराट के प्रेमी युगल को भी लड़की के परिवार वालों द्वारा मार दिया जाता है और दर्शक हाथ मलते हुए सिनेमा हॉल से बाहर निकलते हैं। इस रूप में यह फिल्म समाज के बदलते स्वरूप को स्वीकार करती हुई दिखाई देती है। हिन्दी फिल्मों में अधिकतर भाई को प्रेमी जोड़े के बीच खलनायक के रूप में दिखाया गया है। पर इस फिल्म में मुंह बोला भाई बहन का सहयोगी होता है। फिल्म का कथानक भले ही मथुरा जिला है पर यह सम्पूर्ण भारत की समस्या है। शौचालय की समस्या के बहाने से फिल्म में दो समाज का चित्रण किया है- एक समाज वह जो आधुनिक जरूरत को समझकर अपने पुराने मूल्यों में परिवर्तन करते हुए नए को स्वीकार कर रहा है। इस समाज का प्रतिनिधित्व जया जोशी का परिवार करता दिखाई देता है। दूसरे समाज का प्रतिनिधित्व केशव के पिता पंडित जी करते हुए दिखाई देते हैं जो आज भी 'मांगलिक' और 'कुंडली-दोष' को स्वीकारते हैं। फिल्म में आगरा के आस-पास की जचेगो, गयो आएगो, होगों आदि ओकारांत वाली बोली के शब्दों का प्रयोग किया गया है। फिल्म में मुख्यतः भारतीय समाज के गाँव का दृश्यांकन बहुत ही सूक्ष्मता से किया गया है। मथुरा के बरसाने की होली, धान का पुआल, गोबर के उपले, फसल से लहलहाते खेत, लोटे में पानी लेकर शौच को जाती हुई स्त्रियाँ, बारात में गाने की धुन पर नाचती हुई भीड़, फूटते पटाखे, दुल्हन का खुशी से अगवानी करती हुई महिलाएं भारतीय समाज के गाँव का बारीकी से चित्रण करती हैं।

न्यूटन (22-9-2017)

भारत में विभिन्न जाति, समुदाय, धर्म और मान्यताओं के लोग रहते हैं। फिल्मों में उनकी इन मान्यताओं या व्यवहारों को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति मिलती रही है। ऐसा कहा जाता है कि

भारतीय फिल्मों में भारतीय समाज का दर्शन होता है। एक हद तक यह सही भी हो सकता है। पर भारतीय समाज में जितनी विविधता और विस्तार है ये फिल्में उसके सम्पूर्ण अंश का भी चित्रण करने में सफल नहीं हुई हैं। अधिकतर भारतीय फिल्मों में समाज के कुछ प्रतिशत लोगों का ही चित्रण हो पाया है। समाज का अधिकांश हिस्सा अभी भी इसकी पहुँच से छूटा हुआ है। हाशिये के समाज पर बनने वाली फिल्मों को आज भी उँगलियों पर गिना जा सकता है। यही कारण है कि यह समाज आज भी फिल्मों से अपनी दूरी बनाए हुए है। अधिकतर भारतीय निर्देशक गीत-संगीत से युक्त सौन्दर्य और प्रेम युक्त फिल्में बनाते हैं। वे भारतीय जनता को भी 'लव इन पेरिस' या 'नमस्ते लंदन' दिखाने में ही अपना इति श्री समझते हैं। यही कारण है कि देश के अन्य समाज और मुद्दों पर फिल्म बनाने में वे पीछे रह जाते हैं। भारत एक ग्रामीण प्रधान देश है। यहाँ की अधिकतर जनता गाँवों में निवास करती है। पर ये निर्देशक गाँव या उसकी समस्याओं पर आधारित फिल्में बनाने से कतराते हैं। भारत में गाँव समुदायों में विभाजित है। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास मैला आँचल से इसको बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। यहाँ एक समुदाय ऐसा है जिस पर बहुत कम फिल्में बनी हैं। वह समुदाय आदिवासी समुदाय है। यह समाज शहरों से दूर प्रकृति की गोद में अपनी संस्कृतियों को सजोए भाग-दौड़ से रहित जीवन जीता है।

न्यूटन फिल्म का आरंभ ही आदिवासी इलाके में चुनाव प्रचार के दौरान नेता की हत्या से होती है। नेता की हत्या करने वाले कौन लोग हैं? वे इस प्रकार नेता की हत्या क्यों करते है? इस हत्या के पीछे किसकी चाल है? फिल्म इन सभी प्रश्नों को दर्शकों को सोचने के लिए छोड़कर आगे बढ़ जाती है। हमारी सरकार इस प्रकार की हत्या करने वालों को नक्सली कहती है और अपने इस अभियान में वह आए दिन नक्सलियों को पुलिस मुठभेड़ में मारती रहती है। इस फिल्म में इस समाज की शांति को भंग करने वाले कारक तत्वों को बहुत ही सूक्ष्मता से फिल्माया गया है। न्यूटन एक ऐसी फिल्म है जो भारत के ऐसे समाज के मताधिकार की वकालत करती है जो सभ्य लोगों द्वारा सदियों से ओझल हैं। इसी भारत में एक ऐसा समाज भी रहता है जो अपने अधिकारों से वंचित प्रकृति की गोद में सारी सुविधाओं से वंचित जीवन गुजर-बसर करता है। इस समाज की गलती यह है कि ये सीधे-सादे लोग सभ्य समाज की भाषा और मक्कारी को न सीखकर अपनी ही बोली और सरलता से पूर्ण जीवन जीते हैं। शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं से कोसों दूर ये अपने इलाज की विधि खुद ही तलाशते हैं। इसी उपचार की विधि में मच्छर से बचने के लिए अपने आपको चींटियों से कटवाने की विधि भी सम्मिलित है। इसके साथ ही इस समाज के लोग पेड़ों पर पाई जाने वाली लाल चींटियों की चटनी भी बनाते हैं। नंग-धड़ंग मासूम बच्चे जो ठीक से हिंदी बोल और समझ भी नहीं पाते कुछ लोगों द्वारा नक्सलियों के एजेंट करार दिए जाते हैं। जंगल में घास-फूस के मकानों में रहकर पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर रहने वाला यह समाज आज कुछ लोगों की आँखों में गड़ रहा है। इसका कारण उनके क्षेत्रों में पाए जाने वाले अकूत खनिज पदार्थों पर पूँजीपतियों की टेढ़ी नजर है। इसी कारण इनके घरों को जलाकर तथा अन्य कई तरह से डरा-धमकाकर इन्हें उस क्षेत्र से खदेड़ा जा रहा है। फिल्म में इस समाज के लोग कम समय आए हैं पर कम समय में ही आप उनकी स्थिति देखकर सब कुछ समझ सकते हैं। इसमें में इनके फटे कपडों से दिखती खुली पीठ, पोपला मुँह, सूखे चेहरे पर स्पष्ट निर्दोषता देखकर आपको इनके बारे में सोचने को विवश कर देती है। भारत का कानून बने 69 वर्ष हो गए पर इनके अपने कानून 1000 वर्ष पुराने हैं। इनका मुखिया पटेल कहलाता है जो इनके सभी झगड़े का निपटारा करवाता है। उनके साथ सदियों से इन सभ्य जन द्वारा भेदभाव होता आ रहा है। उनके क्षेत्र में वोटिंग कराने गया

अधिकारी न्यूटन सैनिक अधिकारियों द्वारा उनके साथ किए गए व्यवहार को देखकर दंग रह जाता है। इस पर वहीं की आदिवासी मलको उन्हें बताती है, "आपने जो आज देखा है वो देखते-देखते हम बड़े हुए हैं।" इस संवाद से आप उनके शोषण और यथास्थिति का अंदाजा लगा सकते हैं। फिल्म के अंत में जंगलों में बड़ी-बड़ी मशीनें लगाकर खुदाई करते हुए दिखाया गया है। इसी खुदाई के कारण ही आदिवासियों को नक्सली सिद्ध कर उनके घरों को जलाया जाता है और यहाँ के खनिजों को लूटकर अफसर लोग शॉपिंग मॉल में खरीददारी करने जाते हैं। यह आदिवासी क्षेत्रों को नक्सली क्षेत्र घोषित करने की सच्चाई है।

एक विमर्श जिसका इस फिल्म में दृश्यांकन किया गया है और जो अभी तक इस लेख में नहीं आया है वह है स्त्री शिक्षा। हमारे देश में स्त्रियों की संख्या आधी आबादी के रूप में चित्रित की जाती है। यह आधी आबादी आज भी शिक्षा, स्वस्थ्य और रोजगार जैसे मूलभूत जरूरतों से वंचित है। जब न्यूटन की सगाई के लिए वे लोग लड़की के घर जाते हैं तो लड़की का पिता न्यूटन से कुछ पूछने के लिए कहता है। न्यूटन जब लड़की से उसके कॉलेज के बारे में पूछता है तो लड़की के बाप द्वारा दिया गया उत्तर हमारे समाज के लोगों का कॉलेजों के बारे में उनकी सोच का पर्दाफास करती है। लड़की का बाप कहता है- "हम न भेजें अपने बच्चों को बदमाशी के अड्डे पे। नाम पढ़ाई का और काम दो नंबर का।" यह हमारे समाज का कॉलेजों के प्रति सोच है। यही कारण है कि समाज में लड़के तो कुछ हद तक पढ़-लिख भी लेते हैं पर लड़कियां अभी भी चूल्हे-चौके के लिए ही उपयुक्त समझी जाती रही हैं। यह सामंती मूल्य ऐसा नहीं है कि पूरी तरह से बदल गया है। अभी भी सिर्फ गिनती की लड़कियाँ ही उच्च शिक्षा में प्रवेश कर पाई हैं। यदि उच्च शिक्षा तक पहुँचने के उनके संघर्ष का जिक्र किया जाए तो अनेकों किताब बन सकती हैं। जब न्यूटन लड़की की उम्र साढ़े सोलह साल सुनकर सगाई करने से मना करता है तो लड़की के पिता का उत्तर होता है- "बेटा नूतन बच्ची ससुराल में बड़ी हो ज्यादा बेहतर है।" इसी सोच के कारण आज भी गाँवों में कम उम्र की लड़कियों की शादी हो जाती है। वे कम उम्र में ही माँ बनने के कारण अपने स्वस्थ्य से सदा के लिए दूर हो जाती है। जब न्यूटन शादी करने से इंकार करता है तो उसके पिता- "ससुर कनट्रैक्टर दामाद अफसर जिंदगीभर घी में डूबा रहेगा बेटा" और उसकी माँ- "मान जा बाबू दस लाख रुपए नगद, एक मोटर साइकिल दे रहे हैं साथ में" का प्रलोभन देते हैं। यह दहेज रूपी दानव भारत से कब खत्म होगा पता नहीं। समाज में लोग जितना ही शिक्षित होते जा रहे हैं उनके दहेज की मांग उतना ही बढ़ती जा रही है। यह हमारे समाज की कटु सच्चाई है। बात यहीं नहीं रुकती। जब न्यूटन लड़की का ग्रेजुएशन होने की मांग करता है तो उसके बाप का जवाब होता है- "क्यों तेरी डिग्री कम है क्या चाटने के लिए; जो उसकी भी चाहिए। ग्रेजुएट लड़की तेरे माँ के पैर दबाएगी?" न्यूटन के पिता की यह सोच कम-ज्यादा हमारे समाज के प्रत्येक सास-ससुर की सोच है। उनके लिए घर में बहू का आना सेविका का आने जैसा है। बेटे-बहू मिलकर माता-पिता की सेवा करें इससे किसी को कोई हर्ज नहीं होनी चाहिए। पर जिस ससुर के सोच के आरंभ में ही सास का पैर दबाने वाली बहू हो ऐसे सास और ससुर के विचारों में व्यापक परिवर्तन की जरूरत है।

भारत एक विविधता से परिपूर्ण देश है। उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक अनेक भाषा-भाषी तथा संस्कृति को मानने वाले लोग रहते हैं। सभी भाषाओं की अपनी क्षेत्रीय फिल्में बनती हैं जो उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती हैं। हिन्दी फिल्मों का संसार व्यापक है। यह सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए इसमें कश्मीर की समस्या से लेकर कन्याकुमारी तक के समाज को दिखाया जाता है। वैसे तो अभी तक भारतीय समाज पर आधारित अनेक

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

फिल्में बन चुकी हैं पर उपरोक्त तीनों फिल्में एक ऐसे भारतीय समाज और संस्कृति का दर्शन कराती हैं जिसका चित्रण बहुत कम हुआ है। इन फिल्मों के अतिरिक्त अनेक ऐसी फिल्में बनी हैं जिसमें भारतीय भाषा, संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को दर्शाया गया है। 'दिल वाले दुलहनियाँ ले जाएंगे', 'कभी खुशी कभी गम', 'विवाह', 'बागबान' आदि फिल्मों में भारतीय समाज को वृहद रूप में दिखाया गया है।

हिंदी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समकालीन प्रश्न

बृज किशोर वशिष्ट

एसोशिएट प्रोफेसर, मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांध्य),
दिल्ली विश्वविद्यालय

सार : 21वीं सदी के भारत के सामने आर्थिक विषमता, सामाजिक भेदभाव, लिंग भेद, अशिक्षा, बढ़ती जनसंख्या आदि अनेक चुनौतियाँ हैं। अपने विकास के क्रम में आगे बढ़ते हुए कोई भी समाज अपने समय की चुनौतियों से बिना टकराए आगे नहीं बढ़ सकता। साहित्य मानवीय जीवन की समस्याओं से अपनी तरह से जूझता है। साहित्येतिहास में बहुत कम ऐसे अवसर आए हैं जब साहित्य ने अपने समय की चुनौतियों से बचने का प्रयास किया हो। समकालीन हिंदी साहित्य में दलित और स्त्री साहित्य की दो ऐसी धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं जो हमारे समाज के मूलभूत और पुरातन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न कर रही हैं। बहुत हद तक दलितों के सामने वही चुनौतियाँ हैं जिनका ग्रामीण और शहरी भारत के निर्धन सामना करते हैं। जीवनयापन की समस्या का सामना प्रत्येक जाति और वर्ग के निर्धन को करना पड़ता है लेकिन साथ ही साथ यह भी तथ्य हमारे सामने है कि अन्य जातियों के मुकाबले दलित जातियों में निर्धनता ज्यादा गहराई से पैठी हुई है। गरीबी के अलावा छुआछूत, आंतरिक सोपानीकरण, नव-ब्राह्मणवाद, रूढ़िवादी मानसिकता, भाग्यवाद इत्यादि कुछ ऐसे केंद्रीय समस्याएँ हैं जिन्हें दलित समाज के समग्र विकास में प्रमुख अवरोधक माना जा सकता है। दलित साहित्य उपर्युक्त सभी प्रश्नों को अपनी रचनाओं में स्थान देता है। आत्मकथा दलित साहित्य के प्रमुख विधा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन), मोहनदास नैमिशराय (अपने-अपने पिंजरे), सूरजपाल चौहान (तिरस्कृत), कौसल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप) आदि दलित साहित्य के प्रमुख आत्मकथा लेखक हैं। इन सभी रचनाओं में दलित समाज की समस्याओं को भरपूर स्वर मिला है। अभिव्यक्ति के स्तर पर जो तीक्ष्णता और तिक्तता इन रचनाओं में दिखाई देता है वह अन्यत्र दुलर्भ है। समता स्थापना, नए समाज का निर्माण और जाति आधारित भेदभाव का समूल नाश जैसे लक्ष्य को संबोधित करने की दृष्टि से ये आत्मकथाएँ सफल दिखाई देती हैं। इनमें मनुष्य की अवमानना के अनेक रूपों को देख जा सकता है। दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त मनुष्य का दर्द व्यक्तिगत पीड़ा, एहसास से आरंभ होकर अन्ततः एकताबद्ध इकाई के रूप में परिणत हो जाता है। लेखक के निजी अनुभव अभिव्यक्ति के स्तर से ऊपर उठकर दलित आंदोलन के अस्त्र बनते दिखाई देते हैं।

''कमाल का मुल्क है। हमें तो बात-बात पर यहाँ अचंभा होता है। दूसरी ही दुनिया है। जंगल-पहाड़, नदी-नाले, रेगिस्तान, शहर, खेत, जानवर, पेड-पौधे, लोग, बोलियाँ, बरसातें, हवाएँ सब और ही और हैं।'' *(बाबरनामा, 1525-26)*

21वीं सदी के भारत के सामने आर्थिक विषमता, सामाजिक भेदभाव, लिंग भेद, अशिक्षा, बढ़ती जनसंख्या आदि अनेक चुनौतियाँ हैं। अपने विकास के क्रम में आगे बढ़ते हुए कोई भी समाज अपने समय की चुनौतियों से बिना टकराए आगे नहीं बढ़ सकता। साहित्य मानवीय जीवन की समस्याओं से अपनी तरह से जूझता है। साहित्येतिहास में बहुत कम ऐसे अवसर आए हैं जब साहित्य ने अपने समय की चुनौतियों से बचने का प्रयास किया हो। समकालीन हिंदी साहित्य में दलित और स्त्री साहित्य की दो ऐसी धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं जो हमारे समाज के मूलभूत और पुरातन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न कर रही हैं।

मराठी दलित साहित्य हिंदी समेत लगभग सभी भारतीय भाषाओं में रचे जा रहे दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत है। मराठी में दलित साहित्य सन् 1960 के आसपास उभरना आरम्भ होता है। लगभग तीस

साल बाद 1990 के बाद हिंदी साहित्य में इसका प्रादुर्भाव होता है।

दलित साहित्य उपर्युक्त सभी प्रश्नों को अपनी रचनाओं में स्थान देता है। आत्मकथा दलित साहित्य की प्रमुख विधा है। मोहनदास नैमिशराय (अपने-अपने पिंजरे), ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन), कौसल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप), सूरजपाल चौहान (तिरस्कृत), श्योराज सिंह बेचैन (मेरा बचपन मेरे कंधों पर) आदि दलित साहित्य के प्रमुख आत्मकथा लेखक हैं। इन सभी रचनाओं में दलित समाज के समक्ष उपस्थित चुनौतियों को भरपूर स्वर मिला है। अभिव्यक्ति के स्तर पर जो तीक्ष्णता और तिक्तता इन रचनाओं में दिखाई देती है वह अन्यत्र दुलर्भ है। समता स्थापना, नए समाज का निर्माण और जाति आधारित भेदभाव का समूल नाश जैसे लक्ष्य को संबोधित करने की दृष्टि से ये आत्मकथाएँ सफल दिखाई देती हैं। इनमें मनुष्य की अवमानना के अनेक रूपों को देख जा सकता है। दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त मनुष्य का दर्द व्यक्तिगत पीड़ा के एहसास से आरंभ होकर अन्ततः एकताबद्ध इकाई के रूप में परिणत हो जाता है। लेखक के निजी अनुभव अभिव्यक्ति के स्तर से ऊपर उठकर दलित आंदोलन के अस्त्र बनते दिखाई देते हैं।

बहुत हद तक दलितों के सामने वही चुनौतियाँ हैं जिनका ग्रामीण और शहरी भारत के निर्धन सामना करते हैं। जीवन यापन की समस्या का सामना प्रत्येक जाति और वर्ग के निर्धन को करना पड़ता है लेकिन साथ ही साथ यह भी तथ्य हमारे सामने है कि अन्य जातियों के मुकाबले दलित जातियों में निर्धनता ज्यादा गहराई से पैठी हुई है। गरीबी के अलावा अस्पृश्यता, जाति प्रथा, आंतरिक सोपानीकरण, नव-ब्राह्मणवाद, रूढ़िवादी मानसिकता, भाग्यवाद इत्यादि कुछ ऐसे केंद्रीय समस्याएँ हैं जिन्हें दलित समाज के समग्र विकास में प्रमुख अवरोधक माना जा सकता है। हम इनमें से कुछ पर यहाँ विचार कर रहे हैं-

जाति प्रथा

जाति के लिए अंग्रेजी में 'कास्ट' शब्द का प्रचलन है जो पूर्तगाली भाषा के 'कैस्टा' शब्द से बना है। कैस्टा का अर्थ नस्ल या वर्ग होता है। लेकिन भारतीय संदर्भ में 'जाति' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसका पर्याय संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं ढूँढ़ा जा सकता। जाति विशुद्ध भारतीय संकल्पना है। भारत में जाति व्यवस्था जितनी जटिल, सुव्यवस्थित और रूढ़ है उसकी तुलना शेष विश्व की किसी भी सामाजिक व्यवस्था से नहीं की जा सकती। भारत में लगभग 3000 जातियाँ हैं। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने जाति प्रथा पर विचार करते हुए लिखा है कि, ''जाति प्रथा ने हिंदुओं को एक समाज बनने से रोका है। इस धर्म में अनेक अंतर्विरोध हैं और हरेक जाति पहले अपना स्वार्थ साधती है। हिंदुओं का साहित्य जातिवाद से भरा पड़ा है। हर प्रकार के सुधारों को रोकने का काम जाति करती है। जाति रूढ़िवादियों के हाथ में एक ऐसा शक्तिशाली अस्त्र है जिसका प्रयोग करके वे आवश्यक परिवर्तनों को रोकते हैं।''[1] वर्ण और जाति में भिन्नता होते हुए भी ये एक-दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हैं। अक्सर दोनों का समान अर्थ में प्रयोग होता है लेकिन तात्विक रूप से इन दोनों अवधारणाओं में पर्याप्त अंतर है। पांडुरंग वामन काणे के अनुसार, ''वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र(स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक और बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है कर्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदंड पर बल देना - न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। किंतु इसके विपरीत जाति-व्यवस्था जन्म एवं आनुवांशिकता पर बल देती

है और बिना कर्तव्यों के आचरण पर बल दिए केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित है।''[2] एम.एन.श्रीनिवास का मानना है कि,-----वर्तमान वास्तविक सोपान में जाति का स्थान बदलने की संभावना रहती है, जबकि वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण का स्थान सदा के लिए निर्धारित है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि वर्ण आदर्श में निहित यथार्थ की विकृति के बावजूद यह अभी तक जीवित रहा आया है।''[3] वर्ण और जाति में सोपानीकरण अपरिहार्य रूप में मौजूद रहता है और दोनों ही में ब्राह्मण सबसे ऊपरी पायदान पर रहता है।

जाति का संबंध पेशे से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक जाति का अपना विशिष्ट पेशा है और हर जाति का व्यक्ति अपनी निश्चित सीमाओं के भीतर रहकर काम करता है। जाति की परिभाषा देते हुए रिजले का कथन है, ''जाति ऐसे परिवारों या परिवार समूहों का संग्रह है जिनके समान नाम हों, जो एक ही पुश्तैनी व्यवसाय का प्रदर्शन करते हों और जिन्हें ऐसे सभी दूसरे व्यक्ति, जो इस संबंध में राय देने के अधिकारी हों, एक समांगी बिरादरी मानते हों।''[4] स्पष्ट है कि जाति की आंतरिक संरचना को सुदृढ़ बनाए रखने में उस जाति के पेशे का महत्वपूर्ण योगदान रहता है लेकिन आधुनिक समाज में कई जातियाँ अपने परंपरागत पेशों से बाहर निकलने के लिए संघर्ष कर रही हैं और कुछ काफी हद तक इसमें सफल भी हो गई हैं।

जाति का आधार जन्मना है। किसी का जिस जाति में जन्म होता है वह चाहकर भी उसका त्याग नहीं कर सकता। जन्म के अतिरिक्त किसी जाति में प्रवेश का कोई अन्य मार्ग नहीं है। आदमी अपना धर्म तो बदल सकता है लेकिन जाति नहीं। समकालीन समाज में पेशेगत शिथिलता के कारण कोई अपना आर्थिक स्तर तो सुधार सकता है लेकिन सामाजिक स्तर को सुधारना आज भी संभव नहीं है। इस संदर्भ में शेरिंग का कथन बहुत रोचक है जिसमें वह कहता है कि, ''जाति व्यवस्था में समझौते की गुंजाइश नहीं। अनपढ़ से अनपढ़ हिंदू भी सबसे बुद्धिमान व्यक्ति से इसके नियम मनवा सकता है।''[5] जाति एक ऐसा दिशासूचक यंत्र है जो व्यक्ति के सामाजिक जीवन की दिशा को निर्धारित कर देता है। अगर कोई उस राह से अलग जीवन जीना चाहे तो इसकी छूट जाति-व्यवस्था में नहीं है। उसी राह पर उसे अपनी जीवन साथी, अपने मित्र, अपना काम और अपने धार्मिक रीति-रिवाज मिलते हैं। प्रत्येक जाति अपने सदस्यों की जीवन पद्धति को पूरी तरह नियंत्रित करती है।

हिंदी दलित आत्मकथाएँ डॉ. भीमराव अंबेडकर के जाति व्यवस्था विषयक विचारों से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। 'अपने-अपने पिंजरे' में जाति व्यवस्था से घायल मन की व्यथा मुखर करते हुए मोहनदास नैमिशराय का कथन है कि, ''हम लम्बे समय से अपमान सहते आए थे, पर गुनहगार न थे हम। हम हारे हुए लोग थे जिन्हें आर्यों ने जीतकर हाशिए पर डाल दिया था। हमारे पास अंग्रेजों के द्वारा दिए गए तमगे, मेडल, पुरस्कार न थे। हमारे पास था सिर्फ कड़वा अतीत और जख्मी अनुभव।''[6] एक दूसरा उदाहरण देखिए, ''हमारी जात के योद्धा कितनी बार हारे होंगे, कितनी बार टूट-टूटकर बिखरे होंगे। जब इस देश में आर्य आए होंगे। कितनी यातनाएँ सहनी नहीं पड़ी इस देश के मूल निवासियों को। वही यातनाएँ हज़ारों सालों से आज भी झेल रहे हैं।''[7] इन आत्मकथाओं में लेखकों ने स्थान-स्थान पर जाति प्रथा के दंश को अभिव्यक्त किया है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि युवावस्था में अपनी प्रेमिका के साथ हुए संवाद का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, ''मैंने साफ शब्दों में कह दिया था कि मैंने उत्तरप्रदेश के चूहड़ा परिवार में जन्म लिया है।

सविता गंभीर हो गई थी। उसकी आँखें छलछला आईं। उसने रुआँसी होकर कहा , ''झूठ बोल रहे हो न?'' ''नहीं सवि----यह सच है---जो तुम्हे जान लेना चाहिए----'' मैंने उसे यकीन दिलाया था।

वह रोने लगी थी। मेरा एस.सी. होना जैसे कोई अपराध था। वह काफी देर सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हज़ारों सालों की नफरत हमारे दिलों में भर गई थी। एक झूठ को हमने संस्कृति मान लिया था।''[8] हालाँकि इन लेखकों के मन में अपनी जाति को लेकर कोई हीनताबोध नहीं है। वे अपनी रचनाओं में अपनी जाति के भीतर फैली कुरीतियों का खुलकर वर्णन करते हैं।

अशिक्षा

विषमतामूलक समाज के चरित्र की सबसे बड़ी खासियत यह होती है कि उसमें शिक्षा के स्तर पर भी पर्याप्त विषमता होती है। शिक्षा वर्चस्ववादी वर्ग का सबसे सूक्ष्म अस्त्र होती है। इस क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठता कायम रखने का अर्थ जीवन के हर क्षेत्र में कब्जा होना है। यही कारण है कि समाज परिवर्तन के लक्ष्य को लेकर चलने वाले अधिकांश विचारकों ने निम्नवर्ग को इसका महत्त्व समझाने का प्रयास किया है। दलितों की शिक्षा के बारे में सवर्णों की मानसिकता को 'जूठन' में आए प्रसंग से देखा जा सकता है। झाड़ू न लगाने देने के पिता के फैसले के बाद लेखक को स्कूल से निकाल दिया जाता है। लेखक का पिता गाँव के बड़े लोगों के पास जब अपने बच्चे की सिफारिश के लिए पहुँचता है तो उनकी तरफ से होने वाली प्रतिक्रिया देखिए, ''जिसका भी दरवाजा खटखटाया यही उत्तर मिला, ''क्या करोगे स्कूल भेजके'' या ''कौवा बी कबी हंस बण सके'', ''तुम अनपढ़ गँवार लोग क्या जाणो, विद्या ऐसे हासिल ना होती।'', ''अरे! चूहड़े के जाकत कू झाड़ू लगाने कू कह दिया तो कोण-सा जुल्म हो गया'', या फिर ''झाड़ू ही तो लगवाई है, द्रोणाचार्य की तरियों गुरु-दक्षिणा में अँगूठा तो नहीं माँगा'' आदि-आदि।[9] एक अन्य प्रसंग में सूरजभान तगा के बेटे बृजेश द्वारा कीचड़ में धकेल दिए जाने पर भी लेखक शिक्षा के प्रति अपनी आस्था को डगमगाने नहीं देता। वह लिखता है कि ''स्कूल के नल पर मैंने हाथ-पाँव धोए थे। किताबें कापियाँ धूप में सुखाई थीं। मेरा मन बहुत दुःखी हो गया था उस रोज। लग रहा था जैसे पढ़ना-लिखना अपने हिस्से में नहीं है। लेकिन पिताजी का चेहरा सामने आते ही उनकी बातें याद आने लगी थीं, 'पढ़-लिखकर जाति सुधारनी है।''[10] शिक्षा विकास करने का एकमात्र रास्ता है इस तथ्य को एक बार समझ लेने के बाद रास्ते में आने वाली रुकावटों से निपटने में आसानी हो जाती है।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का सामान्य अर्थ 'अस्पृश्य या अछूत होने की अवस्था या भाव, धार्मिक और सामाजिक दृष्टियों से किसी अस्पृश्य को न छूने का विचार या भाव'[11] होता है। अंग्रेजी में अस्पृश्यता के लिए 'अनटचेबिलिटी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। सन् 1931 की जनगणना के अधीक्षक जे.एच. हटन ने जनगणना अधीक्षकों को हिदायत देते हुए लिखा कि, ''ये वे जातियाँ हैं जिनके स्पर्श से स्वर्ण हिंदुओं को स्नानादि कर शुद्ध होने की आवश्यकता होती है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इस शब्द को व्यवसायों के संदर्भ में लें। किन्तु इसका संबंध उन जातियों से है जिनको हिंदू समाज में उनकी परंपरागत स्थिति के कारण कुछ अयोग्यताओं का सामना करना पड़ता है- उदाहरणार्थ उन्हें मंदिरों में प्रवेश नहीं दिया जाता या उन्हें पृथक कुओं का इस्तेमाल करना पड़ता है या जिन्हें स्कूलों में अन्य बच्चों के साथ बैठने नहीं दिया जाता और उन्हें भवन से बाहर रहना पड़ता है या जो इसी प्रकार की अयोग्यताओं का शिकार हैं।''[12] अस्पृश्यता के आरंभ और विकास के बारे में कोई निश्चित मत नहीं मिलता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने 400 ईसा पूर्व से अस्पृश्यता का आरंभ माना है। लेकिन यह तो तय है कि उससे पहले भी अस्पृश्यता किसी न किसी रूप में विद्यमान रही होगी।

अस्पृश्यता के आरंभ पर विचार करते हुए वामन पांडुरंग काणे ने पाँच कारण गिनाए हैं। उन्होंने माना है कि अस्पृश्यता केवल जन्म से ही उत्पन्न नहीं होती बल्कि इसके उद्गम के कई अन्य स्रोत भी हैं।

मनुस्मृति को आधार बनाकर उन्होंने पहला कारण बताते हुए लिखा है कि, ''ब्रह्म हत्या करने वाले, ब्राह्मणों के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोगों को जाति से बाहर कर देना चाहिए, न तो कोई उनके साथ खाए, न उन्हें स्पर्श करे, न उनकी पुरोहिती करे और न उनके साथ कोई विवाह संबध स्थापित करे, वे लोग वैदिक धर्म से विहीन होकर संसार में विचरण करें।''[13] दूसरा कारण उन्होंने धार्मिक विद्वेष और घृणा को माना है। ''बौद्धों पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, कापिलों(सांख्यों), धर्मच्युत ब्राह्मणों, शैवों एवं नास्तिकों को छूने पर वस्त्र के साथ स्नान कर लेना चाहिए।''[14] अस्पृश्यता का तीसरा कारण उन्होंने व्यवसाय को माना है। ''कुछ लोगों को जो साधारणतः अस्पृश्य नहीं हो सकते थे, कुछ विशेष व्यवसायों का पालन करना, यथा देवलक (जो धन के लिए तीन वर्ष तक मूर्तिपूजा करता है।), ग्राम के पुरोहित, सोमलता विक्रयकर्ता को स्पर्श करने से वस्त्र परिधान सहित स्नान करना पड़ता था।''[15] कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में भी अस्पृश्यता के विधान को चौथा कारण माना जाता था। ''रजस्वला स्त्री के स्पर्श, सूतक में स्पर्श, शव स्पर्श आदि में वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था।''[16] इसका विधान भी मनुस्मृति(5/85) में मिलता है। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त पाँचवे कारण के रूप में दूसरे देशों के निवासियों मुख्यतः मुसलमान को भी अस्पृश्य माना जाता था। एक समाज को अलग-थलग करने में व्यवसाय सबसे बड़ा कारण बनकर उभरा। कुछ व्यवसायों को निकृष्टता के भाव से देखा जाने लगा। शास्त्रों में ही ऐसा विधान किया गया कि कुछ व्यवसायों को अपनाने पर व्यक्ति को अस्पृश्य मान लिया जाता था। ''स्मृतियों के अनुसार कुछ ऐसे व्यक्ति जो गंदा व्यवसाय करते थे अस्पृश्य माने जाते थे, यथा कैवर्त(मछुआ), मगृयु(मृग मारने वाला), व्याघ(शिकारी), सौनिक(कसाई), शाकुनिक(बहेलिया), धोबी, जिन्हें छूने पर स्नान करके ही भोजन किया जा सकता था।''[17] इन व्यवसायों के अलावा सफाई, चर्मशोधन और श्मशान इत्यादि के कार्यों की गणना भी निकृष्ट व्यवसायों में की गई। उपर्युक्त कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्मग्रंथों ने अस्पृश्यता की ऐसी मजबूत दीवार का निर्माण किया कि उसको पार करके कोई भी सवर्णों की श्रेष्ठता के अभेद्य किले में प्रवेश न कर सके। अस्पृश्यता के कड़े नियमों ने एक बहुत बड़ी जनसंख्या को आर्थिक दृष्टि से विकास करने से वंचित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

यह व्यवस्था मध्यकाल तक आते-आते इतनी रूढ़ हो गई कि ''बहुत सी जातियों को मध्यकाल में कोढ़ियों की भाँति बाहर निकलने पर घंटियाँ बजानी पड़ती थीं ताकि सवर्ण हिन्दू सावधान हो जाएँ और उन्हें भूल से स्पर्श न कर लें।''[18] अंग्रेजों के आगमन के बाद भी इस व्यवस्था में उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। महात्मा गांधी का विश्वास था कि अस्पृश्यता जाति-प्रथा की आंतरिक ऊँच-नीच का परिणाम ही है। 10 फरवरी, 1946 को हरिजन पत्रिका में उन्होंने लिखा कि, ''हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता को कोई स्थान नहीं है। अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर लगा एक कलंक है। यदि यह अस्पृश्यता प्रथा न गई तो हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म का अस्तित्व संकट में पड़ जाएगा।'' अस्पृश्यता के धुर विरोधी होने पर भी उन्हें वर्ण-व्यवस्था में पूर्ण विश्वास था। ये इसे आदर्श व्यवस्था मानते थे। गांधी जी का प्रसिद्ध कथन है, 'मैं दुबारा जन्म लेना नहीं चाहता लेकिन अगर मुझे दुबारा जन्म लेना पड़े तो मैं एक अछूत के घर पैदा होना चाहूँगा ताकि मैं उनके दुःखों, तकलीफों और सरेआम बेइज्जती का भागीदार होकर स्वयं को और उन सबको इस दारुण स्थिति से मुक्ति दिला सकूँ। इसलिए मेरी कामना है कि मैं दुबारा जन्म लूँ। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं बल्कि अतिशूद्र के रूप में जन्म लूँ' संविधान में प्रावधान किए जाने से हमारे समाज कुछ इस तरह का भ्रम फैला कि राजनीतिक प्रयासों से समाज में अस्पृश्यता की भावना समाप्त हो गई है।

लेकिन यथार्थ के धरातल पर यह सच्चाई नहीं थी। सामाजिक समस्याओं के निवारण में राजनीति एक सीमा तक ही मददगार हो सकती थी। दलित साहित्यकारों की रचनाओं में अस्पृश्यता की घिनौनी तस्वीर को हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि, ''अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपभोग खत्म। इस्तेमाल करो दूर फेंको।''[19] ठीक इसी पीड़ा को स्वर देते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि, ''हमारी जात के हिस्से में थी तो कंगाली की ऐसी चादर जिसमें से एक के बाद एक संकट झांक रहे थे। संकटों के साथ-साथ हम अस्पृश्यता के भी शिकार थे। उन संकटों से बाहर आने का रास्ता भी न था। मुक्तिद्वार हमारे लिए बंद थे। हम केवल तड़प सकते थे, रो सकते थे, सिसक सकते थे। हमारे भीतर बाहर अजीबोगरीब हाहाकार थे। पर उन्हें सुनने के लिए वहां फुर्सत किसे थी?''[20]

आंतरिक सोपानीकरण

दलित आंदोलन और साहित्य के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उनके बीच में भी सवर्ण समाज की तरह एक श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था काम करती है। आंतरिक सोपानीकरण और जाति भेद दलितों में एक बहुत बड़ी चुनौती है। 1919 में डॉ. अम्बेडकर ने साउथ बरो आयोग के सामने माँग की था कि अछूतों के लिए अलग मतदाता मंडल बनाए जाने चाहिए। इस घटना को हम दलित आंदोलन का प्रस्थान बिन्दु मान सकते हैं। डॉ. अम्बेडकर के इस कदम के पीछे दलितोद्धार की भावना काम कर रही थी। लेकिन दलित समाज उनकी इस भावना को ठीक से नहीं समझ पाया और वह ब्राह्मणवाद के सोपानीकरण का शिकार हो गया। सन् 1931 की जनगणना के अधीक्षक जे.एच. हटन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत में जाति प्रथा' में भारतीय जाति प्रथा के बारे में लिखा था कि, ''भारत में जाति व्यवस्था जितनी जटिल, सुव्यवस्थित और रूढ़ है उसकी मिसाल विश्व के किसी भी भाग में कहीं नहीं मिलेगी। वस्तुतः जब हम गहराई से सोचते हैं तो यही पाते हैं कि यह भारत में ही मिलती है अन्यत्र नहीं।''[21] दलित आंदोलन जिस जातिवाद के विरोध में खड़ा हुआ था वह स्वयं जातिगत अंतर्विरोधों से ग्रस्त हो गया। ये अन्तर्विरोध इस आंदोलन की सतह पर दिखाई भी देने लगे हैं। ऊँच-नीच के भेदभाव को यहाँ सहज ही देखा जा सकता है। 'वाल्मीकि' और 'जाटव' जातियाँ एक-दूसरे को हीन दृष्टि से देखती हैं। इसका संकेत कई साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में दिया है। दलित समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव का मोहनदास नैमिशराय ने विस्तार से वर्णन किया है, ''दलितों में ही जाटव और वाल्मीकि जातियों में संवाद का अभाव तो था ही साथ ही आपस में घृणा और तनाव का वातावरण भी रहता था। कभी-कभी तो मारपीट भी हो जाती थी। दोनों जातियों के व्यवसाय/रहन-सहन/खान-पान तथा धार्मिक परंपराओं में जमीन आसमान का अंतर था। एक जाति के लोग सुअर खाते थे, दूसरी जाति के लोग सुअर देखना भी नहीं चाहते। पर दोनों की आर्थिक स्थिति में भी फर्क था। वाल्मीकि समाज के लोग आर्थिक दृष्टि से कमजोर थे जबकि जाटवों की माली हालत लगभग ठीक-ठाक ही थी। हालाँकि देश को आजादी मिलने तक दोनों ही जातियों के अधिकांश लोग गुलाम जैसा जीवन जीने को बाध्य थे। आजादी के बाद भी पूर्वी उत्तरप्रदेश के कुछ गाँव/कस्बों में यह स्थिति बंधुआ मजदूरों की तरह भी थी। पर दुखद आश्चर्य की बात तो यह भी थी कि वहीं एक जाति दूसरी जाति के साथ गुलामों और जानवरों जैसा व्यवहार करती थी। इसका मुख्य कारण था कि जाटवों में से कुछ जो बौद्ध हो गए थे उन्होंने पूरी तरह से बाबा साहेब के दर्शन को आत्मसात नहीं किया था।

और वे उसी वर्ण व्यवस्था-परंपरा तथा जातिभेद को आँख मींचकर मानते थे।''[22] स्पष्ट है कि दलित समाज में भी ब्राह्मणवादी ढाँचे का ज्यों का त्यों अनुसरण किया गया है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए नैमिशराय जी ने लिखा है कि, ''हमारी जात के घरों में भी सफाई करनेवाले/करनेवाली आती थी, जिन्हें अन्य की तरह हम भी अबे ओ भंगी के , अरी ओ भंगन------ आदि-आदि नामों से पुकारने में अपना बड़प्पन समझते थे। उन्हें बात-बात पर गालियाँ भी दे देते थे। हमारे घरों में जब किसी की मृत्यु हो जाती तो मृतक के अन्य कपड़े, सामान आदि उन्हें दिए जाते थे। शादी-विवाहों के अवसरों पर उनकी स्थिति दीनहीनता से भरपूर और भी विचित्र बन जाती थी। जब सभी लोगों का भोजन समाप्त हो जाता था तब तक टोकरा, सिलवर की परात, गिलास आदि लिए वे भिखमंगे की तरह इंतजार करते थे। बीच में उनकी औरतें चिरौरी करतीं और हमें सेठजी, चौधरी, माई-बाप, हजूर आदि-आदि नामों से अलंकृत करतीं। दूसरी तरफ मर्द उन्हें डांटे-फटकारे बिना न रहते। कभी-कभी गालियाँ भी दे देते। वे विवश, भूखे पेट लिए घर बैठे बच्चों को जल्द-से-जल्द जूठन खिलाने के लिए सब कुछ सहन करतीं। असल में इस जूठन में सब कुछ मिलकर गड़बड़ हो जाती थी। वैसे वे अपने टोकरों में वैसे ही समेटतीं कभी-कभी वे चील, गिद्ध और कऊवे बन जाते और जमीन पर पड़ी या बिखरी जूठन को अपनी अंगुलियों से कुरेदतीं। हमारी जात के लोग उन्हें कुत्ता/बिल्ली समझ कर डांटते/फटकारते/तथा भगाते। पर वे वहीं जमीं रहतीं। एक-एक मुट्ठी चावल के लिए घंटों-घंटों खुशामद कर पांवों को हाथ लगातीं। पर उसके अलावा थोड़े साफ स्वच्छ भोजन की भी चाह उन्हें होती। जब सारे लोग भोजन कर लेते, तब उनको थोड़ा-बहुत बांटने का समय आता था।''[23] एक ही समाज की दो जातियों के बीच के फासला इतना अधिक है कि उन दोनों जातियों के लोग एक साथ एक पंगत में बैठकर खाना भी नहीं खा सकते।

निष्कर्ष

भारत के समक्ष वर्तमान चुनौतियों को भली प्रकार से समझने के लिए छठे-सातवें दशक से आज तक विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखे गए दलित लेखकों के जीवन वृतांतों का अध्ययन आवश्यक है। मराठी से आरंभ हुए वृतांतों से प्रेरणा पाकर आज भारत की अधिकांश भाषाओं में आत्मकथा के रूप में समाज के दबे-कुचले वर्ग को अभिव्यक्ति मिल रही है। भारतीय समाज दलित लेखकों के लिए ऐसी विवशता पैदा कर देता है कि उसके सामने अपने यथार्थ की अभिव्यक्ति के अलावा कोई दूसरा रास्ता ही नहीं बचता। अपने भूतकाल को समस्त कारुणिकता के साथ दर्ज़ करवाने की चाह, सामाजिक इतिहास को वर्णित करने की इच्छा, अनुकरणीय जीवन का दस्तावेज़ तैयार करने की अभिलाषा, दर्दनाक मवाद को जड़ से बाहर निकालने की छटपटाहट, अपनी दृढ़ता की अभिव्यक्ति, मनुष्य की कोटि में रखे जाने के लिए संघर्ष, शिक्षा पर एक अस्त्र के रूप में अटल विश्वास, आगे की लड़ाई के लिए अतीत की पुनर्व्याख्या आदि दलित आत्मकथाओं को लिखने के कारण के प्रमुख कारण हैं। आत्मकथात्मक साहित्य के माध्यम से सदियों से दबाए गए दलित-समाज ने अपनी 'कराह' को मुखर किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार, ''दलित रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है। वह अपने निजी दुःख से ज्यादा समाज की पीड़ा को महत्ता देता है। जब वह 'मैं' शब्द का प्रयोग कर रहा होता है तो उसका अर्थ 'हम' ही होता है। सामाजिक चेतना उसके लिए सर्वोपरि है।''[24]

संदर्भ

1. जाति-पाति तोड़क मंडल के लिए लिखे गए अध्यक्षीय वक्तव्य (1932) का अंश
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, वामन पांडुरंग काणे, पृष्ठ-119

3. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, एम-एन- श्रीनिवास, पृष्ठ-20
4. भारत में जाति-प्रथा, जे-एच- हटन, पृष्ठ-46
5. भारत में जाति-प्रथा, जे-एच- हटन, पृष्ठ-115
6. अपने-अपने पिंजरे, मोहनदास नैमिशराय, भाग 1, पृष्ठ 17
7. वही, पृष्ठ 19
8. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 119
9. वही, पृष्ठ 17
10. वही, पृष्ठ 40
11. बृहत् प्रामाणिक हिन्दी कोश, सं.रामचन्द्र वर्मा, ग्यारहवाँ सं. 2004, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 78
12. भारत में जाति प्रथा, जे-एच- हटन, पृष्ठ 184
13. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृष्ठ 168
14. वही, पृष्ठ 168
15. वही, पृष्ठ 168
16. वही, पृष्ठ 168
17. वही, पृष्ठ 168
18. भारत में जाति प्रथा, जे-एच- हटन, पृष्ठ 117
19. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 12
20. अपने-अपने पिंजरे, भाग2, पृष्ठ 25
21. भारत में जाति प्रथा, जे-एच-हटन, पृष्ठ 45
22. अपने-अपने पिंजरे, भाग2, पृष्ठ 67
23. वही, पृष्ठ 67
24. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 40

संपर्क: 09873559924

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री जीवन और संघर्ष

अजीत कुमार (शोधार्थी)
गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर
e-mail-ajeet9782258954@gmail.com
Mobile No-9782258954

भारतीय समाज पुरूष-प्रधान होने के कारण हमेशा से नारी को दोयम दर्जा देता आया है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि हरेक वर्ग की स्त्रियों के साथ अन्याय हुआ है। यह बात अलग है कि सब कुछ स्वाभाविक ढंग से आत्मसात करना उनके व्यवहार में शामिल हो गया है, फिर भी दलित वर्ग की स्त्रियों की दशा पर विचार किया जाए तो पता चलता है कि उनकी हालत ज्यादा खराब है। अन्यों की अपेक्षा दलित स्त्री अधिक पीड़ित और प्रताड़ित है। वह अस्पृश्यता का शिकार है, निर्धनता उसकी पीड़ा है, वहीं कामकाज के लिए घर से बाहर जाने पर उसकी अस्मत संकट के साये में रहती है। ऐसा नहीं है कि अन्य वर्ग की स्त्रियों के साथ दैहिक अनाचार नहीं होते किंतु दलित स्त्रियों की तरह आर्थिक अभाववश बाहर दूसरों के यहां काम करने जाने की उनकी विवशता नहीं होती, बल्कि वे घर पर रहकर बच्चों के लालन-पालन एवं चूल्हा चौका संबंधी अन्य घरेलू कार्यो में अपना समय व्यतीत करती हैं। इसलिए अनेक प्रकार के बाह्य खतरों से मुक्त रहती हैं। जबकि दलित स्त्रियों के साथ धनाढ्य एवं अन्य दृष्टियों से शक्तिशाली वर्ग के लोग उनकी कमजोरी और बेबसी का फायदा उठाना एवं उसका शोषण करना अपना अधिकार सा समझते हैं। इनके साथ ज्यादती करने में उन्हें भय भी नहीं होता। साथ ही अशिक्षा, निर्धनता और बौद्धिक स्तर पर कमजोर होने के कारण उन्हें घरेलू प्रताड़नाओं का भी सामना करना पड़ता है। बात-बात पर उसे मारा-पीटा जाता है। इन स्थितियों का आत्मकथाओं के अन्तर्गत विस्तृत चित्रण हुआ है। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा में दलित वर्ग की स्त्रियों की इस समस्या से संबंधित अनेक मार्मिक उदाहरण आए हैं। इन घटनाओं को उन्होंने बहुत करीब से देखा और महसूस किया है। अपनी आंखों के सामने मां के साथ शारीरिक उत्पीड़न की घटना घटित होना, अस्मत रक्षा के निमित उसका चीख पुकार करना और बालक होने के नाते या किसी भी दृष्टि से अक्षम होने की बेबसी को बर्दाश्त करना कितना कठित होता है, इसे अभिव्यक्त कर पाने में भाषा लाचार सी हो जाती है। इसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है। इस तरह के एक प्रसंग का लेखक ने उल्लेख किया है। जब उनकी मां बीमार थीं और ठाकुरों के वर्चस्व के कारण उनकी ज़्यादती के आगे विवश होकर उन्हें सफाई का काम करने उनके घर पर जाना पड़ा। उस समय मां के बुखार से तपने के कारण सहयोग के लिए लेखक भी गए। घर साफ-सफाई का काम चल रहा था इसी बीच ठाकुर के द्वारा किए गए अप्रिय अपराध का उल्लेख करते हैं कि ‘‘मैं ठाकुर से पहले ही डरा हुआ था, उसकी झिड़की खाकर और सहम गया। मां मना करती रही फिर भी मैं घेर के पीछे कूड़ा उठाने गया। थोड़ी ही देर बाद मुझे मां की चीख सुनाई पड़ी। चीख सुनकर मैं उस ओर दौड़ा। ठाकुर जयसिंह अपने दोनों हाथों से मां को दबोचे हुए था। मां भेड़िये के पंजों में फंसी हाथ-पांव पटक रही थी। मां की हालत देखकर मैं दहल गया था। मां का आंचल खींचकर ठाकुर ने दूर फेंक दिया था। वह अपनी पकड़ और मजबूत करते हुए मां के मुंह से अपना मुंह अड़ाने की कोशिश कर रहा था। मैं था तो बालक ही, लेकिन उस समय मेरा खून खौल उठा।’’[1] यहाँ बाद में इस बात की शिकायत करने के लिए पीड़िता बड़े ठाकुर के पास जाती है और खबर पूरी हवेली में फैल जाने से घर में मौजूद अन्य स्त्रीपुरूष भी निकल आते हैं। किंतु पीड़िता को न्याय मिलना संभव नहीं हो पाता बल्कि उल्टे उसीको चरित्रहीन, कुलटा और निम्नजाति की होने का हवाला देते हुए गाली गलौज कर भगा दिया जाता है। एक तरफ बाहर बड़ी दुनिया है जहां स्त्रियां

उत्पीड़न का शिकार हैं वहीं घरेलू अत्याचार का भी उन्हें कम सामना नहीं करना पड़ता। इसके कारण एक नहीं अनेक हैं। एक तो वह स्त्री होने के कारण भारतीय समाज व्यवस्था में पुरूषों के बरक्स द्वितीय दर्जे में है, पुरूषों की तुलना में शारीरिक मेहनत की भी उनकी अपनी सीमाएं हैं। घर का मालिकाना हक पुरूषों के हाथों में हैं। वहीं दुनियाभर की ठोकरों से झल्लाया हुआ पुरूष अपना सारा आवेश और आक्रोश बात-बात पर स्त्रियों पर उतारता है। यही वह स्थान है जहां वह हमेशा स्वयं को बड़ा और विजयी महसूस करता है। ऐसे अनेक प्रसंग डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा में आए हैं। उन्होंने घर पर लड़की और लड़के के बीच आरंभ से ही होने वाले भेदभाव पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि ''हालांकि बहन बड़ी थी, परन्तु पूरे परिवार का लाड़ मेरे प्रति अधिक था। वंशबेल तो लड़के से ही चलती है, शायद इस विश्वास का अतिरिक्त लाभ मुझे अतिरिक्त स्नेह के रूप में मिल रहा था।''[2] हालांकि इस तरह का भेदभाव सभी वर्गों में होता है। लेकिन अपेक्षाकृत अन्य वर्गों के दलित स्त्री या लड़की अधिक प्रताड़ित होती है। लड़की को बचपन से ही उसे लड़की होने का एहसास दिलाया जाता है। यह शिक्षा उसको उसके घर, परिवार, मां, दादी, पिता, भाई, स्कूल, समाज एवं रिश्तेदार समय-समय पर देते रहते हैं। इन सब कारणों की वजह से वह अपने दायरे में सिमट कर रह जाती है। एक तरह से वहीं से उसका शोषण होना प्रारंभ हो जाता है और फिर तो वह उम्रभर इस शोषण की चक्की में पिस्ती रहती है। इसी तरह मां की कारूणिक दशा पर भी श्यौराज सिंह बेचैन ने व्यापक प्रकाश डाला है। पिता की महज तीस वर्ष की अवस्था में ही मृत्यु हो जाने पर उनकी मां की जिस पुरूष के साथ शादी हुई थी। उनके साथ उन्हें तरह-तरह की यातनाएं झेलनी पड़ती थी। इस सन्दर्भ में लेखक लिखता है कि ''सबसे दुखद यह है कि भिकारी अम्मा को लाठी-डंडे, कलाबूत या फरहे (वह लकड़ी जिस पर रखकर चमड़ा काटा जाता था) से मारा-पीटा करता था। वह मेरे और मेरी बहन के बारे में क्यों सोचती है, इस बात को लेकर परेशान की जाती थी। दो-चार महीने पाली रहती तो दस-पांच दिन के लिए नदरौली लौट आती बहन से मिलने के लिए। वह हमें साथ लेकर पैदल ही चल पड़ती थी। मेरी बहन का गांव नदरौली से करीब तीस-चालीस किमी. की दूरी पर था।''[3] श्यौराज सिंह बेचैन ने एक बेबस स्त्री की दयनीय व कारूणिक दशा का मार्मिक चित्रण को सामने लाया है। जिसके साथ दो पुरूष पूरी रात बलात्कार करते रहे। यह घटना उनके लिए काफी पीड़ादायक रही। आत्मकथाओं में अनेक ऐसे प्रसंगों का उल्लेख हुआ है जिनमें दलित-स्त्री की पीड़ादायक जीवन दशा के विविध आयामों का चित्रण हुआ है। इस तरह के प्रसंग संकेत करते हैं कि दलित महिला का जीवन कष्टप्रद है। दलित स्त्री परिवार, समाज, कार्यक्षेत्र आदि विभिन्न स्थानों पर लिंगभेद, जाति आदि कारणों से प्रताड़ित व पीड़ित होती है। घर, परिवार, ससुराल तथा समाज में नारी की स्थिति क्या रही है तथा इन संस्थाओं ने नारी की स्थिति को निर्मित करने में क्या भूमिका अदा की है। इस संदर्भ में मुद्राराक्षस लिखते हैं कि ''स्त्री की हैसियत को दूसरे दर्जे पर बनाए रखने में परिवार नाम की संस्था की भूमिका भी बहुत बड़ी होती है। परिवार जिस वैवाहिक रस्म को सामाजिक स्वीकृति देता है, उस रस्म को प्रमाणिकता धर्मतंत्र से मिलती है और दुनिया के सभी बड़े धर्मों ने इस रस्म को पुरुषपक्षीय बनाकर रखा है। धर्मतंत्र स्त्री को पुरुष के बराबर का दर्जा कभी नहीं देता। विवाह और परिवार की जो परिकल्पनाएं कीं, उनमें स्त्री पीछे चलने वाली और पुरुष के आर्थिक सामाजिक नियंत्रण में रहने को मजबूर बनायी गयी। यह उत्तराधिकार का सवाल भी इसी परिवार व्यवस्था का एक जरूरी हिस्सा बन कर रह गया। यही वजह है कि जगत्सेठ का बेटा ही जगत्सेठ हुआ, बेटी नहीं।''[4] घर में जकड़कर स्त्री के हक और अधिकार तो छीन ही लिए साथ ही उसकी मनोवांछित इच्छाएं भी मार दी

गईं। घर से बाहर के लोगों ने तो स्त्री का शोषण किया ही लेकिन घर के अंदर, उसके नाते रिश्तेदारों तक ने उसको एक मनुष्य की बजाय एक वस्तु या मशीन के रूप में ही अधिक जाना और उसे उत्पीड़ित किया। मध्यकाल ही नहीं आधुनिककाल तक नारी ने यह उत्पीड़न उसके जीवन का हिस्सा मानकर स्वीकार किया। इन पीड़ाओं से गुजरती नारी की पारिवारिक स्थिति का वर्णन करते हुए माताप्रसाद कहते हैं- ''एक घटना मेरे दूसरे लड़के डॉक्टर एसी.पी. भास्कर के पैदा होने के दिन की है। श्रीमती जी ने बैलों के साथ रबी की फसल की दंवाई की। शाम को दंवाई बंद थी। उस दिन नाद में पानी डालने की बारी इन्हीं की थी। इन्होंने कुए से दो बार घड़े से पानी निकालकर नाद में डाला। फिर हिम्मत नहीं पड़ी, जाकर कमरे में लेट गई। शाम को दर्द से परेशान होने लगी तो इन्होंने लड़की शांति से कहा कि अपनी चाची से कह दो सोते समय लालटेन हमारे कमरे में रख दे, लेकिन उसने लालटेन अपने कमरे में रखकर किवाड़ बंद कर लिए। अंधेरे में वह पड़ी थी। उस दिन होलिका दहन था। पड़ोस की दो औरतें होलिका दहन देखने आई, फिर उन्होंने श्रीमती जी को देखना चाहा, वे आई तो देखा, कमरे में बड़ा अंधेरा है। उन्होंने श्रीमती जी को पुकारा, वह बोली, फिर वे दोनों औरतें बड़े जोर से बिगड़ी। तब मेरी मां ने बैठक में जाकर एक दूसरी लालटेन लाकर जलाई।''[5] घर के अंदर होने वाले अत्याचार एवं शोषण आदि को एक स्त्री किस तरह से वहन करती है तथा उसके साथ किस तरह से उसके परिवार में व्यवहार होता है, यह सब यहां स्पष्ट पता चलता है। स्त्री द्वारा किए गए किसी कार्य में चाहे दोष उसका न हो तो भी परिवारजन उसे ही दोषी बताते हैं। एक स्त्री भी दूसरी स्त्री का सहयोग करने की बजाय उसे नीचा दिखाने की सोचती है। यह हर घर में देवरानी-जेठानी का विवाद होता है। इसमें पुरुष मानसिकता की शिकार स्त्रियां इसी तरह की कार्य शैली की अभ्यस्त हो जाती हैं इसलिए ऐसा करती हैं। कहने का तात्पर्य हर स्थिति में स्त्री को दोषी ठहराने की परंपरागत जातिवादी, पुरुषवादी तथा धार्मिक मान्यताएं आज भी चली आ रही हैं।

दलित स्त्री, स्त्री के साथ साथ दलित होने के कारण भी शोषित होती है। तथाकथित उच्च जाति के लोग दलित स्त्री को अपने पैर की जूती समझते हैं। जब चाहे तब उसे रोंद देते हैं। दलित स्त्री ऐसी स्थिति में अपने आपको बहुत असहाय महसूस करती है। रूपनारायण सोनकर दलित महिला के साथ होने वाले शोषण का वर्णन करते हैं कि ''एक बार मैं एक दलित के घर के सामने एक दोस्त से बात कर रहा था। गुंडा इंद्रजीत सिंह वहां से गुजरा। एक खूबसूरत दलित की लड़की घर के अंदर थी। उसकी मां बाहर बैठी थी। गुंडा उसकी मां से बोला-'आज रात को ट्यूबवैल में अपनी लड़की को भेज देना।' मैं समझ नहीं पाया। मैंने लड़की की मां से पूछा। उसने रोते हुए सारी बातें बताईं-'यह इंदरजीत सिंह हफ्ते-पन्द्रह दिन में रोज बिटिया को ट्यूबवैल में रात भर रखता है। सुबह तड़के घर भेजता है। मना करने पर जान से मार डालने की धमकी देता है।' मैं दंग रह गया कि हमारे गांव में ऐसा भी होता है। कुछ ब्राह्मण भी उसके इस कुकृत्य में शामिल होते हैं। दलित महिला ने मुझे बताया-'अगर मैं नहीं भेजती हूं तो रात में घर में घुसकर सभी के सामने तमंचे की नोक पर बिटिया को घसीट कर ट्यूबवैल ले जाता है। हम सभी पर लात-घूसों से प्रहार करता है। कभी-कभी हम लोगों को बाहर करके मकान के अंदर ही उसके साथ बलात्कार करता है।''[6] दलित स्त्री के साथ इस तरह व्यभिचार करना सवर्ण वर्ग का पुराना सगल रहा है। इन सबके कारण दलित स्त्री लगभग हमेशा ही शोषित होती रही है। स्त्री की पीड़ा को एक स्त्री ही महसूस कर सकती है। इस संदर्भ में दलित लेखिका अनीता भारती सामाजिक बंधनों में जकड़ी दलित स्त्री के उत्पीड़न को इस तरह बयां करती हैं कि ''दलित नारीवाद मानता है कि दलित स्त्री के प्रति भेदभाव या उनकी हीन स्थिति और उत्पीड़न का कारण उसका दलित व स्त्री होना है। जबकि अन्य

स्त्रियों के साथ स्त्री होना ही काफी है। दलित स्त्री होने के कारण ब्राह्मणवादी पितृसत्ता द्वारा सामाजिक हिंसा का क्रूरतम रूप उसके खिलाफ निकलकर आता है। भारतीय नारीवाद में घरेलू हिंसा के खिलाफ जंग छेड़ने की बात हुई, लेकिन सामाजिक हिंसा पर अद्भुत तरीके से मौन साध लिया गया। हैरान करने वाली बात यह है कि भारत में महिला आंदोलन की शुरुआत एक आदिवासी लड़की मथुरा के सामूहिक बलात्कार की घटना के खिलाफ लड़ने से हुई थी। पर बाद में धीरे-धीरे पूरा महिला आंदोलन, महिला साहित्य और उसकी सोच सामाजिक पहलू से हटकर या तो स्त्री के घरेलू और यौन उत्पीड़न के एकांगी दृष्टिकोण में सिमट गई या फिर 'मैं और मेरी मुक्ति' में कैद हो गई।''[7] स्त्री को हर जगह ताने सहने पड़ते हैं। सामाजिक संरचना में यह इस तरह से घुलमिल गया है कि हर जगह, हर कोई उसे कुछ न कुछ नसीहत देता ही रहता है। अनेक प्रकार की प्रताड़नाएं एवं शोषण को झेलती हुई दलित स्त्री को उम्र के हर पड़ाव पर संघर्ष करना पड़ता है। वह पीहर से ससुराल जिस व्यक्ति के साथ आती है, गृहस्थी की गाड़ी में यदि वह भी उसका साथ देने की बजाय जब उसका उत्पीडन करने लगे तो उसे अन्य लोग सहारा देंगे यह कैसे उम्मीद की जा सकती है ? घर परिवार से लेकर समाज तक यह स्त्री हमेशा प्रताड़ित, पीड़ित, दमित और शोषित रही है। मानसिक प्रताड़ना के साथ-साथ शारीरिक एवं यौन शोषण से भी अनेक जगह पर अनेक बार दलित स्त्री को प्रताड़ित होना पड़ता है और अपने पवित्र होने की परीक्षाओं से भी उसे अनेक बार गुजरना पड़ा है और पड़ रही है। समाज व्यवस्था में लगे इस तरह के चरित्र हीन दागों को सहन करती हुई स्त्री जब सवाल उठाती है कि उसका शोषण करने वाला एक पुरुष है तो निःसंदेह चिंता जनक स्थिति है।

सामाजिक स्थितियों में दलित स्त्री शोषित होती है। जातिगत भेदभाव में दलितों के द्वारा अपने बर्तन तक न छूने देने वाले तथाकथित उच्च वर्ग के लोग जब दलित स्त्री के जिस्म को छूते हैं तो उनका धर्म या जाति क्यों नहीं भ्रष्ट होती है ? स्त्री के साथ शोषण करने पर इन सवर्ण समाज के लोगों का अपमान नहीं होता, आखिर क्यों ? दलित स्त्री के साथ होने वाले अत्याचार को देखते हुए इस तरह के अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। आत्मकथाओं में लेखकों ने दलित स्त्री के जीवन एवं उसके संघर्ष को प्रस्तुत करके इसी तरह के सवाल खड़े किये हैं। इस संदर्भ में रूपनारायण सोनकर एक ऐसा ही उद्धरण प्रस्तुत करते हैं कि ''लखना सिंह दरवाजे के अंदर प्रवेश कर गया और अंदर से दरवाजे की कुंडी लगा ली। दुलारी को पकड़कर उसको चूमने-चाटने लगा। दुलारी जोर-जोर से उसको झटका देकर चिल्लाने लगी-'बचाओ! बचाओ! बचाओ!' 'तुझे कोई नहीं बचाएगा। मैं इस गांव का राजा हूं। मैं यहां का शहंशाह हूं। मेरा जिस औरत पर मन आ गया मैं उसको भोगकर छोड़ता हूं।' दुलारी कांपने लगी और बोली-'अभी हमारी सुहागरात नहीं हुई है, हमें छोड़ दीजिए।' गुंडा बोला-'सुहागरात हम तुम्हारे साथ मना लेते हैं।' 'ऐसा पाप मत करिए।' 'सुहागरात में पाप कहां होता है ?' सुहागरात में पुण्य ही पुण्य होता है।' 'मुझे अपवित्र मत कीजिए।' 'सुहागरात में औरत पवित्र हो जाती है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि सुहागरात मैं मनाऊं या जगदंबा तुम्हारे साथ मनाए। दुलारी की जोर-जोर से चिल्लाने की आवाज जोर-जोर से बज रहे नक्कारों की आवाज में दब रही थी। नक्कारों पर जितनी जोर-जोर से डंका पड़ता था नक्कारे से उतनी ही जोर से आवाज निकलती थी। डंडे के जोर के प्रहार से नक्कारा फट कर तख्त से लुढ़क कर जमीन पर गिर पड़ा।''[8] यहाँ सामने आता है कि अनेक स्थितियों में स्त्री की इस बेबसी का लाभ उठाने वाला पुरुष उसे अपनी शारीरिक हवस का शिकार बनाता है। उसे मानसिक एवं शारीरिक रूप से प्रताड़ित करता है। अनेक प्रकार से उसका शोषण करता है। अपनी ताकत और उसकी कमजोरी को दिखाने के लिए तथा अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए वह उसके साथ अनेक तरह के अनैतिक कार्य

करता है। घर से लेकर ससुराल तक दलित स्त्री किस तरह से शोषित और प्रताड़ित होती है, यहां स्पष्ट दिखाई दे रहा है। यह दलित स्त्री के ऊपर होने वाली वह पीड़ा है जिसकी चीत्कार तथाकथित सवर्ण समाज को सुनाई ही नहीं देती। दलित स्त्री अपने परिवार, रिश्तेदार आदि के साथ-साथ समाज में भी अनेक स्तरों पर प्रताडित होती है। चूंकि वह अन्य की अपेक्षा अधिक कमजोर मानी जाती है, इसलिए हर कोई उसे उसी दृष्टि से देखता है और उसकी कमजोरी का लाभ उठाता है। दलित स्त्री के ऊपर होने वाले अन्याय और अत्याचारों को एक बड़े फलक पर उठाने का काम रूपनारायण सोनकर अपनी आत्मकथा के माध्यम से कर रहे हैं। दलित लेखिका अनीता भारती कहती हैं कि ''पिछले कुछ सालों से देखने में आ रहा है कि दलित महिलाओं पर सामाजिक हिंसा बहुत तेजी से बढ़ रही है, साथ में घरेलू हिंसा की घटनाओं में भी काफी बढ़ोतरी होती जा रही है। जहां एक ओर सामाजिक हिंसा का दायरा उनके साथ बलात्कार करना, निर्वस्त्र घुमाना, उनको शौच खिलाना और धार्मिक व सामाजिक अंधविश्वास के नाम पर उन्हें डायन और चुड़ैल करार देकर सरेआम पत्थरों, लाठी-डंडों से पीट पीटकर मार रहे हैं वहीं दूसरी ओर उनकी इंसानी गरिमा के खिलाफ जातिगत पेशे के नाम पर मैला ढोने जैसी अमानीयता प्रथा से लेकर देवदासी और बेडनी जैसी देह उत्पीड़क परंपराएं चल रही हैं। घरेलू हिंसा के रूप में दलित महिलाओं पर घर में भी अत्याचारों में लगातार बढ़ोतरी हो रही है।''[9] दलित स्त्री को समाज में अनेक प्रकार की यातनाएं सहनी पड़ती हैं। उसकी देह पर सबकी गिद्ध दृष्टि उसे नोंचने के लिए हर समय तैनात रहती हैं। किस प्रकार दलित स्त्री का शारीरिक शोषण होता है, उसे यहां व्यक्त किया गया है। शिक्षा एक ऐसा हथियार है जिसके माध्यम से वह अनेक तरह की लड़ाईयां लड़ी जा सकती है। लेकिन यह शिक्षा रूपी हथियार स्त्री को दिया ही नहीं जाता है। अशिक्षित होने के कारण दलित स्त्री समाज की परंपराओं, विद्रूपताओं, अनैतिकताओं एवं रूढ़िवादिताओं से लड़ नहीं पाती है। उल्टा उसे यह कहा जाता है कि स्त्री स्वभावगत सहज, दयावान और कोमल होती है। जबकि वास्तविकता यह है कि स्त्री को कमजोर और असहाय बनाया जाता है। जिससे की वह अपने आप को बाद में कमजोर और असहाय महसूस करने लगती है। इन दिनों समाज में समानता का एक नया तुर्रा चल पड़ा है। जिसके अनुसार बहुत से लोग अपनी बातों पर विशेष जोर देकर कह रहे होते हैं कि समय बदल चुका है, जात-पांत, ऊंच-नीच का अब भेदभाव मिट गया है। स्त्री-पुरूष में भी अब समानता है। शिक्षा, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, प्रबंधन, प्रशासन, राजनीति और खेलकूद ऐसा कौन सा क्षेत्र है जहां आज नारी की पैठ नहीं है। किंतु इस बात में कितनी सच्चाई है यह किसी से छुपा नहीं है। आज भी जिन गांवों में देश की 70 प्रतिशत आबादी बसती है, वहां जाकर जमीनी स्तर पर देखें तो जातिभेद का पर्दाफाश होता है। वहीं विभिन्न कार्यक्षेत्रों में महिलाओं की प्रतिशत पर जाएं तो उनकी वास्तविक स्थिति का पता चलता है। समाज की वर्तमान विडम्बनापूर्ण स्थिति पर यह गंभीर सवाल है। डॉ. धर्मवीर लिखते हैं कि ''अनीता का मुख्य विषय 'औरत' है। अनीता कहती है कि औरत को कभी आजाद नहीं छोड़ना चाहिए। इसे दी गई किसी भी ढील से पुरुष को नुकसान होगा। औरत इस काबिल नहीं है कि इसे इसके हाल पर अकेली छोड़ दिया जाए। यह किसी न किसी के चक्कर में जरूर रहेगी। यह हर मामले में गैर जिम्मेदार बनी रहती है। मैं अनीता के इस कथन की हिंदुओं के शास्त्रों से तुलना कर रहा था। उनमें औरत को पिता, पति या बेटे के नियंत्रण में रखने को कहा गया है।''[10] ये वो ताने हैं जो आम तौर पर लगभग स्त्री के जीवन में उसके बचपन से ही, जब से वो बोलना और चलना भी नहीं सीखती है, तब से ही प्रारंभ हो जाते हैं। चाहे वह पीहर पक्ष में हो या ससुराल पक्ष में हो। वह अपना पूरा जीवनचक्र इन्हीं तानों के इर्द गिर्द गुजारती है। स्त्री; किशोरी, युवती या वयोवृद्ध

महिला हो, उसकी अपनी इच्छाओं का कोई महत्त्वव नहीं होता है।

एक बात और महत्त्पूर्ण है कि यह अंकुश पुरुषवादी मानसिकता के तहत स्त्री पर या दलित स्त्री पर लगाया जाता है लेकिन जैसे जैसे स्त्री उम्र के पडाव पर बढ़ती जाती है तो उसके अंदर भी पुरुषवादी मानसिकता घर करने लगती है। फिर वह स्त्री ही स्त्री को टोकती और रोकती है। यह एक बड़ी संघर्षमय लड़ाई है, जो कि एक स्वतंत्र और खुले विचार के लिए अति आवश्यक है। लेकिन दलित स्त्री दोहरे शोषण का शिकार होती है। दलित स्त्री के जीवन में संघर्ष ही संघर्ष नजर आता है। संदर्भित आत्मकथाओं में वर्णित प्रसंगों से आत्मकथाकारों ने समाज में दलित स्त्री के साथ होने वाले शोषण को बहुत ही बेबाके साथ बयां किया है। दलित स्त्री के साथ होने वाले इस तरह के अत्याचार को समाप्त करने के लिए दलित स्त्री को शैक्षणिक एवं आर्थिक दृष्टि से मजबूत होना पड़ेगा। लेकिन शैक्षणिक एवं आर्थिक मजबूती की डोर दलित स्त्री के स्वयं के हाथ में नहीं है। इसलिए जो दलित स्त्रियां और दलित पुरुष इस दृष्टि में मजबूत हैं उन्हें पहल करनी पड़ेगी। ताकि आगे की दलित स्त्री वाली पीढ़ी को इस तरह के संघर्ष से न गुजरना पड़े। यद्यपि यह सच है कि जीवन, परिवार व समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए स्त्री पुरूष दोनों महत्त्वपूर्ण हैं, सहयात्री हैं और अन्योन्याश्रित भी हैं। सामाजिक संरचना का व्यावहारिक स्तर इन बातों को महज वाग्जाल सिद्ध कर देता है और वास्तविकता यह नजर आती है कि स्त्री की दशा न केवल दोयम है बल्कि पुरूष से वह प्रताड़ित भी है। उसके प्रति मशीनतुल्य वस्तुवादी दृष्टिकोण प्रभावी है। पुरूष के मनोनुकूल निर्देशों का पालन करने में वह कहीं चूक जाती है तब उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है और वह जागृति के अभाव में अपनी कुंठाओं के साथ सब कुछ बर्दाश्त करने को बेबस रहती है। इन सारी स्थितियों का दलित आत्मकथाओं में बखूबी वर्णन हुआ है। श्यौराज सिंह बेचैन ने विवरण दिया है कि उनके पिता की लगभग तीस वर्ष की आयु में निधन हो जाने पर मां का दो बार पुनर्विवाह हुआ। भिकारी (जिनके साथ अंतिम विवाह हुआ) के भी बच्चे थे, पत्नी गुजर गई थी। दोनों की शादी हुई किंतु भिकारी उन्हें बहुत मारता। डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन कहते हैं कि "भिकारी लाल और अम्मा में अक्सर झगड़ा होता था। वे पति-पत्नी एक दूसरे की जरूरत और मजबूरी थे, किन्तु उनके स्वाभाव और संस्कारों में कोई मेल नहीं था। न तो वे एक दूसरे को समझ पा रहे थे और न समायोजन कर पा रहे थे। सप्ताह में छः दिन उनमें झगड़ा ही होता था। भरणपोषणकर्ता होने, घर का मालिक और पुरूष होने के नाते भिकारी मां को तिहरे अधिकार से मारता था।"[11] यहाँ सामने आता है कि सदियों से दलित महिलाओं का जातीय शोषण सवर्णों द्वारा किया जाता रहा है और साथ में दलित समाज, उसके घर-ससूराल एवं उसकी ही जाति के पुरुषों द्वारा भी उसका शोषण किया जाता रहा है। उस शोषण, अन्याय के प्रति आज कुछ दलित महिलाओं ने विद्रोह करना शुरु कर दिया है। इस विद्रोह में, इस पहल में कुछ पिता या पति उसके साथ हैं, तो कुछ नहीं भी हैं। डॉ. मंजू सुमन दलित महिलाओं की पारिवारिक स्थिति को बयां करती हुई कहती हैं - "दलित स्त्रियों की अपनी पारिवारिक अनेक समस्याएं होती हैं जिन्हे वह अपने सहयोग से सुलझाती हैं। आर्थिक समस्या के लिए वह श्रम करती है, घर से बाहर काम करके वह स्वयं अपने परिवार को सहारा देती है और साथ ही अपनी जरूरत की चीजों की पूर्ति करती है। घरेलू समस्याओं को सुलझाने की अधिक जिम्मेदारी स्त्रियों पर ही होती है, जिसके कारण वह हमेशा घरेलू कार्यों में उलझी रहती है।"[12] श्यौराज सिंह बेचैन जानवरों से भी बुरी तरह मां की पिटाई करने की दशा का चित्रण किया। कारण यह था कि बालक ने पढ़ाई के प्रति ललक होने के कारण चाचा की जेब में से जुए में जीतकर लाए हुए रूपयों में से एक रूपया चुरा लिया

था। चोरी का पता चाचा को चल गया और घर में हालत बिगड़ने लग गई। किसी को यह नहीं पता था कि रूपए श्यौराज ने चुराया है और आशंकावश उसकी अनुपस्थिति में मां की बेतहाशा पिटाई की गई। वे जिस दुकान पर किताब के लिए गए हुए थे वहीं थोड़ी दूरी पर चाचा दिखाई दिए तब उन्होंने डर के मारे पैसे को भी नाली में फेंक दिया और फिर उन्हीं के साथ जब घर आए तो पता चला कि मां की बुरी तरह पिटाई की गई है और उनकी हालत बहुत दर्दनाक हो चुकी है। इस संदर्भ में लेखक कहता है कि ''मेरी मां कसाई द्वारा काटी जा रही गाय की तरह चीख रही थी। मां की चीख मुझे कुछ दूर से ही सुनाई पड़ गई थी। मैं दौड़कर उसके पास पहुंचा। उस समय मां गलियारे में पड़ी कराह रही थी। उसकी कमर पर भिकारी ने पहला वार फरहे (वह लकड़ी जिस पर रखकर चमड़ा काटा जाता था) से किया था। उसके बाद डालचंद (देवर) ने भी मां के शरीर पर लाठियां बरसाई थीं। उसने सिर बचाकर मां का सारा शरीर तोड़ दिया था। मां चीखते-कराहते बेहोश हो गई थी। बीरबल बाबा की घरवाली ने मुंह में पानी डाला था। पूरी बस्ती के स्त्री-पुरूष, बच्चे और रास्ते से गुजरने वाले जाट बनिये, बामन, धोबी, अहेरिया और बाल्मीकि सबके सब झुण्ड जमा हो गए थे।''[13] निश्चित रूप से यह अंदाज लगाया जा सकता है कि किसी स्त्री की यह स्थिति उसके किसी अपराध के दुष्परिणाम की नहीं बल्कि उसकी उपेक्षित एवं नगण्य समझी जाने वाली सामाजिक दशा का परिचायक है। किसी भी अपराध के लिए उनके साथ इस तरह का दर्दनाक रूख अपनाया जाना उचित नहीं माना जा सकता। ऐसे बर्ताव स्त्री-पुरूष के संबंधों में सहजता और परस्पर सद्भाव पर प्रश्नचिन्ह ही नहीं लगाते बल्कि यह साबित करते हैं नारी की दशा पुरूष के आगे नगण्य है और वह पुरूष के हाथों प्रताड़ित भी है।

विश्लेषणात्मक रूप से ये सभी प्रसंग नारी की निम्नतम सामाजिक स्थिति के उदाहरण हैं। नारी न केवल घर के बाहर असुरक्षित और भयभीत है बल्कि घर की चारदीवारी के भीतर भी उसे अनेक यातनाएं झेलनी पड़ती हैं किंतु उसकी चीख-पुकार अधिकांशतया घर के भीतर ही दबकर रह जाती है। वह सब कुछ अपनी सामाजिक असुरक्षा, बाल-बच्चों के भविष्य की खातिर और विशेष रूप से अशिक्षा एवं जागरूकता के अभाव में सब कुछ सहन करने पर विवश होती है। आत्मकथाओं के अंतर्गत स्त्री-पुरूष सम्बन्धों के मद्देनजर दलित स्त्री की दुर्दशा का अनेक स्थानों पर विस्तृत और बहुआयामी वर्णन हुआ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. सूरजपाल चौहान, संपप्त, पृ. सं.-24
2. श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर पृ. सं.-13
3. वहीं, पृ. सं.-13
4. मुद्राराक्षस, बीच बहस में-स्त्री, दलित और जातीय दंश, पृ. सं.-108
5. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, पृ. सं.-44
6. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृ. सं.-70
7. अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं.-10
8. रूपनारायण सोनकर, नागफनी, पृ. सं.-75, 76
9. अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं.-95
10. डॉ. धर्मवीर, मेरी पत्नी और भेड़िया, पृ. सं.-158
11. श्यौराज सिंह चौहान, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृ. सं.-56
12. डॉ. मंजू सुमन, दलित महिलाएं, डॉ. मंजू सुमन, पृ. सं.-104
13. श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृ. सं.-62

रणेंद्र की कहानियों में दर्ज़ आदिवासियों का दर्द

धीरेन्द्र प्रताप सिंह
शोध-छात्र (हिंदी), इलाहाबाद विश्वविद्यालय
पता- कक्ष सं. 28, अमरनाथ झा छात्रावास. 211002
संपर्क सूत्र : 09415772386
ई.मेल- dhirendrasingh250@gmail.com

अपने को सभ्य कहने वाले गैर- आदिवासी लोगों के बीच आदिवासी शब्द को लेकर एक ख़ास उत्सुकता हमेशा बनी रहती है. मसलन आदिवासी कैसे होते हैं? क्या खाते हैं? कैसे रहते हैं? क्या वो काले होते हैं? इतना ही नही इस सभ्य समाज के ज्यादातर लोगों का यह भी मानना है कि चूँकि आदिवासी ज्यादातर जंगल में रहते हैं, इसलिए ये लोग नक्सली होते हैं. यह बहुत पिछड़े होते हैं. इनको पहनने और रहने की तमीज़ नहीं होती. ये लोग अशिक्षित होते हैं. ऐसे ही कई सवाल, मनोवृत्तियां और जिज्ञासायें लोगों के जेहन में तैरती रहती है. सभ्य समाज के लोगों को यह नहीं पता की आदिवासी की समाज की नजर में यही सभ्य लोग 'दिकू' कहे जाते हैं. दिकू यानि की आदिवासियों का शोषक समाज.

हरिराम राम मीणा का कहना है- जिस तरह आज भारत के गैर- आदिवासी अपने को आदिवासी समाजों से सभ्य और आगे बढ़ा हुआ मानते हैं, ऐसा ही पश्चिम कभी सारे गैर- पश्चिमी समाजों के बारे में मानता था.' फिर पश्चिम के देशों ने सभ्य और आधुनिक बनाने के नाम पर पूर्वी देशों को किस तरह गुलाम बना कर रखा यह इतिहास के पन्नों में दर्ज़ है.

आदिवासी समाज को परिभाषित करते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि आदिवासी सदियों से 'बराबरी, भाईचारा और आज़ादी' को अपने जीवन में जीता आया है. यह सूत्र ही उसकी जीवनशैली का एक आवश्यक हिस्सा है वह सामूहिकता में जीता है, उसकी अपनी एक संस्कृति है- भाषाएँ हैं. वह प्राकृतिक संसाधनों- जल- जंगलों का मालिक रहा है जो आज उससे छीने जा रहे हैं. प्रकृति ही उसके जीवन यापन का साधन रही है.'

ध्यातव्य हो कि आदिवासी समाज के लोगों और उन इलाकों से ही देश को सर्वाधिक मूल्यवान वस्तुएं प्राप्त होती हैं. काष्ठ वस्तुओं के निर्माण में भी आदिवासी समाज का अग्रणी योगदान है. फिर भी तमाम आकड़ों और साहित्य से आदिवासी लोगों और इलाकों की दशा चिंताजनक दिखती है. केदार प्रसाद मीणा द्वारा एक संपादित पुस्तक है 'आदिवासी कहानियां'. इस संग्रह की भूमिका में उल्लिखित है कि इस समय देश का सबसे अधिक संघर्षरत तबका यहाँ का आदिवासी है. देश की सरकारों और मुख्यधारा के समाज का उनके प्रति जो रवैया देखने को मिल रहा है, सचमुच अमानवीय और भयानक ढंग का क्रूर उदाहरण है.'

इस चिंता और पीड़ा को केंद्र में रखकर अनेक रचनाकारों ने अपनी लेखकीय प्रतिबध्दता जाहिर की है. जिसमें रणेंद्र का नाम उल्लेखनीय है. यह वही रणेंद्र हैं, जिनका उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' और 'गायब होता देश' साहित्य जगत में खूब सराहा गया. वो इसलिए कि रणेंद्र आदिवासी समुदाय के संकट, संघर्ष और सवालों को निर्भीकता से अभिव्यक्त करते हैं. इनके अभिव्यक्ति का माध्यम न केवल उपन्यास, बल्कि कवितायें और कहानियां भी हैं.

इस लिहाज से इनका अभी तक का एकमात्र कहानी संग्रह ' रात बाकी एवं अन्य कहानियां' पठनीयता, संप्रेषणीयता और सार्थकता की तीनों दृष्टि से बेजोड़ है. इस संग्रह में कुल सात लम्बी कहानियां संग्रहित हैं. जिनमें 'रात बाकी', 'वह बस धूल थी', 'रफ़ीक भाई को समझाइये', 'चंपा गाछ, अजगर और तालियाँ', 'बारिश में भींगती गौरैया', 'जल रहे हैं हरसिंगार' और 'ठीक बा नू, सायराबानू' नामक शीर्षक कहानियां हैं. उल्लेखनीय है कि इस संग्रह की लगभग सभी कहानियां 'हंस', 'कथादेश', 'बयां', 'उत्तरा', 'नया ज्ञानोदय', एवं 'पल- प्रतिपल' जैसी पत्रिकाओं में

प्रकाशित हो चुकी हैं. इसके अलावा इनकी कहानियां विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र- पत्रिकाओं में लगातार छप रही हैं.

खैर इनकी कहानियों को पढ़ते हुए लगता है कि कथा लिखने की जो विशेष शैली रणेंद्र ने विकसित की है, वह अन्य से अलहदा है. अन्य से अलहदा इस अर्थ में कि इनकी कई कहानियां टुकड़ों में बंटी हुई है. जो किसी खास अर्थवान पंक्ति के अंतर्गत अपने मुकाम तक पहुँचती है. जैसे 'रात बाकी' कहानी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है - 'नीली झील सी आँखे और जापानी द्वीप', 'सिर्फ एक उन्माद था जीवन अनुराग', 'गिरता नक्षत्र कालिमा की धार सा'. या 'चंपा गाछ, अजगर और तालियाँ' कहानी की पंक्ति- 'राजधानी : रंगरंग के रिमझिम', 'कृष्णमृगी की आखिरी उड़ान' पंक्तियों से कहानी आगे बढती है.

इनकी कहानियों की विषयवस्तु, भाषा और शैली; एक शोधार्थी के लिए चिंतन का विषय है. वहीं एक सामान्य पाठक के लिए संवेदना के स्तर पर झकझोरने वाली भी है. इन कहानियों के केंद्र में आदिवासी लोग हैं. उनके दुःख और पीड़ा के साथ उनकी जीवटता भी है. उनके हक़-हुकुम की लड़ाइयों के बीच प्रेम के कोमल अतरंग क्षण भी हैं. आदिवासी युवतियों के साहस की मिसाल है. जो जंगल में रहकर पढ़ना और न्याय लेना दोनों जानती हैं. साथ ही गलत का प्रतिकार करने की माद्दा भी रखती हैं. वहीं दूसरी ओर आदिवासी लोगों को और भी हाशिये भी धकेलने हेतु ब्यूरोक्रेसी, पोलिटिशियन, बिल्डर्स और कार्पोरेट्स का गहरा कुचक्र है. पुलिस अधिकारियों की अमानवीय अत्याचार की दास्तान है. कुछ खास लोगों को लाभ पहुँचाने के लिये नियमों की अवहेलना है. विस्थापन की पीड़ा है. समाज के वंचित तबके से ही निकले प्रशासक के द्वारा वंचितों को ही लूटने का किस्सा है. जो यह दिखाता है कि पूँजी और रसूख की हवस व्यक्ति को कितना भी नीचे गिरा सकती है. चाहे वह जिस भी समुदाय या वर्ग का व्यक्ति हो. चाहे वह दक्षिण या वाम के विचारों का पोषक ही क्यों न हो. भ्रष्ट आचार- विचार और सामाजिक व्यवस्था इस तरह का जाल बुनती है अंततः उसमे फंसना ही है.

इस संग्रह की पहली कहानी 'रात बाक़ी' (कथादेश : अखिल भारतीय हिंदी कहानी प्रतियोगिता- 2005) प्रथम स्थान प्राप्त कर चुकी है. कहानी के पन्नो से- '...अपनी मृत्यु के पूर्व...अपनी ही झोपड़ी की आग में झुलसती असह्य पीड़ा...करूँ चीत्कारों के बीच...चाला पच्चो-पुष्पा की आजी- माँ ने चीखकर शाप दिया था- 'जो तोहनी के ई बाँध कहियो पूरा ना होई'...आज...वर्षों बीत जाने के बाद भी...कैमूर अंचल का यह दुर्गावती बाँध अधूरा पड़ा है...एकदम अधूरा...अब यह दुर्योग है...या शाप का असर...कौन जाने...'

इस कहानी में आदिवासी इलाकों में तैनात प्रशासकों का काइयांपन, और उनकी पत्नियों एवं उनके स्वयं के आधुनिक जीवन शैली के रोचक किस्से हैं. मुख्य धारा के राजनीतिज्ञों की जाति और वर्ग आधारित बेगैरत और असंवेदनशील निर्णय हैं. मजदूर वर्ग के जनगीत हैं. हिंसा की दिल दहलाने वाली घटनाएँ हैं. इन सबके बीच यह कहानी हाशिये के उन लोगों को प्रेरणा देती है, जो संघर्ष के बूते अपनी वजूद की जमीन तलाश रहे हैं.

हंस पत्रिका के मार्च, 2017 अंक 'रहस्य- अपराध-वार्ता' विशेषांक में रणेंद्र की एक कहानी छपी थी- 'भूत बेचवा'. वैसे तो यह कहानी रहस्य से भरी है. लेकिन इस रहस्य में शामिल हैं- आदिवासी. जिनके भोलेपन का फायदा उठा कर टी.पी त्रिपाठी और उनका 'त्रिपाठी एंड संस' दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की करता है. नक्सल के नाम पर पुलिस महकमा से सांठ-गांठ करके फ़र्जी इनकाउंटर और हत्या करवाना. यह हत्या शुरू में तो किसी जमींदार के खेत की रक्षा हेतु भूत ख़रीदने से होती है. जिसके फलस्वरूप मोटा पैसा मिलता था. जिसमें शामिल होता है पुलिस महकमा भी. आगे चलकर इसे और भी फायदे वाला धंधा

समझकर खूब खेल होता है. इस भूत के खेल में बलि चढ़ते थे, निरीह आदिवासी. कहानी का एक पात्र पांचू जो टी.पी त्रिपाठी का सहयोगी था, कहता है कि पुलिस महकमा का इतना तो फ़ायदा तो था ही कि किसी कमिय जाइत आदमी के सामने गिड़गिड़ाने या रुपया फेंकने की ज़रूरत नहीं. ख़ाली नजर दौड़ते रहिये. सबसे कमजोर, ग़रीब कमियां परिवार पर नजर रखिये. जरुरत के मुताबिक़ उसके घर से जवान लड़के को उठा लीजिये. कभी डकैत- कभी नक्सली के नाम पर ठोंक दीजिये. उसके बाद मेरे जिम्मे छोड़ दीजिये. मजाल की भूत इधर- उधर हो जाए.'

पता नहीं क्यों आदिवासी, गरीब और मजदूर तबका ही पुलिस- प्रशासन के शोषण का शिकार होते हैं. इस व्यथा को रणेंद्र 'भूत बेचवा' कहानी में ही दर्ज़ किये हैं. वो कहते हैं की शहर के चौराहों पर गोरे- चिट्टे दिखने वाले, महँगी गाड़ियों से चलने वाले, महंगा कपड़ा पहनने वालों को पुलिस शायद ही कभी रोकती हो लेकिन काले दिखने वाले, मैला- कुचला पहने, गमछा लगाये कोई आदिवासी, मजदूर, गरीब दिख जाए तो उसके गाड़ी और कागज में ढेर सारी कमियां दिखा कर बिना कुछ लिए छोड़ते नहीं. दरअसल इस कहानी में भी यही होता है जब आदिवासी युवक अनिल दा अपने साथी की पत्नी के इलाज हेतु कुछ पैसे लिए शहर में प्रवेश करते हैं. कहानी के हवाले से कि ' आदतन आदिवासी अनिल अरुणाभ पन्ना और बहादुर बाखला की बाइक रोक ली गयी. एक सिपाही से अनिल दा उलझ ही रहा था कि दूसरे सिपाही ने कागज पत्तर तलाशने के बहाने डिक्की खोली तो रूपये की थैली पर नजर पड़ गयी. सिपाही जी की बाँछे खिल गई. साले. आदिवासी, कोल-बकलोल के पास एतना रुपया कहाँ से बे? ज़रूर नक्सली सभन का पैसा है. तू लोग कुरियर हो. कहीं पहुँचाने जा रहे हो. बहादुर दा नर्सिंग होम की दवा पुर्जा दिखाते रह गया. गिड़गिड़ाकर, हाथ जोड़कर ऑपरेशन की हड़बड़ी बताई. लेकिन कोई मानने को तैयार नहीं. बहादुर दा को लगा की अब उसकी गोमकाईन और बच्चा बचेंगे नहीं.'

पता नहीं यह कैसा न्याय और कैसी व्यवस्था है जो कमजोर को, आदिवासी को, गरीब पर बेइंतहा जुल्म ढा रही है.

इनकी एक कहानी है 'वह बस धूल थी' है. यह कहानी आदिवासी इलाकों के युवक- युवतियों के सामाजिक दायित्वों, उनके संघर्ष, साहस और सफलता की है. तो वहीँ दूसरी ओर आदिवासियों के बीच से ही निकले एक युवक के भ्रष्टता की दास्तान है. यह वर्तमान समय का प्रभाव या अत्यधिक भोग-विलास की लिप्सा का परिणाम कह सकते हैं कि एक युवक जो प्रशासक नियुक्त होकर अपने ही इलाके में आकर ब्यूरोक्रेसी की मोटी मलाई खाता है. अपने ही भाई- बंधुओं पर अत्याचार ढाता है. वह युवक कोई और नहीं उसी हाशिये के समाज का प्रतिनिधित्व करता है जो आज भी अपने वजूद और समता के लिए संघर्षरत हैं.

यह कहानी यह बताती है कि शिक्षा लेना और नौकरी पाना अलग बात है, और मानवीय मूल्यों की रक्षा करना अलग बात. वहीं एक गरीब, लाचार वो भी एक स्त्री के लिए न्याय पाना कितना कठिन है. यह इस कहानी की नायिका 'सोमा कुजूर' के माध्यम से जाना जा सकता है. कहानी के अंतिम हिस्से में दर्ज़ है कि- ' सोमा कुजूर...एक आदिवासी स्त्री...एक संस्कृति...एक आदिम सभ्यता...ख़त्म हो गई...जैसे...रेड इंडियंस...जैसे डोडो पछी...जैसे एक नदी.'

आज जब कुछ खास धनाढ्य लोग क्वालिटी लाइफ और रंगीन जीवन जी रहे हैं. जब शिक्षा, एनजीओ, पुलिस-प्रशासन, सरकारें, कानून और एक्टिविस्ट निज स्वार्थ में पथ-भ्रष्ट हुए जा रहे हैं. क्रांति एक कमरे के शोर–शराबे और एक खास लुक में ही दब जा रही है. आज जिस तरह फ़र्जी एनकाउन्टर करने और फ़र्जी नक्सली बनाने को लेकर कानूनों का दुरूपयोग हो रहा है. आदिवासी इलाकों में जिस तरह से स्त्रियों के शरीर को कुछ पुलिसिया समूह नरभक्षी भेड़ियों की भांति

नोचते, खसोटते हैं. इन बिंदुओं को रणेंद्र अपनी कहानियों में बखूबी में उठाते हैं. रणेंद्र की एक कहानी है 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ'. यह कहानी इन बिंदुओं को पर सिलसिलेवार चर्चा करती है. आदिवासी सन्दर्भ में रणेंद्र इस कहानी में लिखते हैं 'बहरहाल, बात सेमिनारों- गोष्ठियों की चल रही थी, उनके विषय बहुत गंभीर हुआ करते, जैसे- विस्थापन, पलायन, जल, जंगल, जमीन, आदि-आदि. आयोजक-प्रायोजक थोड़ा ज्यादा गंभीर रहते, यह कहना मुश्किल.'

कुछ आदिवासी इलाकों के लोगों के आजीविका का एक बड़ा माध्यम है तेंदू पत्ता इकट्ठा करना और बीडी बनाना. रणेंद्र उन बीड़ी मजदूरों के अनंत दुःख और बीमारियों के बीच, उन आदिवासियों के हृदय में पलते प्रेम के कोमल भावों को भी अभिव्यंजित करते हैं. ' कहते हैं कि कस्बे का जय किसान कोल्ड स्टोरेज सड़े-गले, कच्चे-पक्के आलुओं से भरा रहता और जय जवान सिनेमा हॉल इन हड़ियल बीड़ी वर्करों से. लेकिन बैजंतीमाला, मधुबाला, शर्मिला टैगोर, वहीदा रहमान की अदाओं पर जब हॉल में सीटियाँ बजती, सिसकारी भरी जाती, सीट उछाले जाते तो टी.बी बैक्टीरिया भी घबड़ा जाता. एक पल के लिए ही सही, हार मान लेता. जिन्दगी लम्हों में जीत महसूसती.'

समग्रतः यह की इनकी कहानियां उन तत्वों का विश्लेषण करती है, जो किसी व्यक्ति को लाचार और बेबस करने में मददगार होती है. इनकी कहानियों से गुजरते हुए यह लगता है कि विषम हालातों से भयभीत हुए बिना आज आदिवासी समाज अपने हक़ के लिए लड़ रहा है. रणेंद्र की कहानियाँ व्यवस्थाजन्य खामियों और षड़यंत्रों को उजागर करती है. शोषण के औजारों और काले कारनामों की चिट्ठा खोलती है. विकास के पीछे दबे पाँव खड़े विनाश की सच्चाई को देखती है. यह भी कि आज आदिवासी समाज अपने न्याय के लिए चाहे जितना संघर्ष कर ले, लेकिन उजाला इनके हिस्से में मुनासिब नहीं. क्योंकि समकालीन दौर में राजनीति की बागडोर उन हाथों में है जो हर कीमत पर बस लाभ चाहते हैं. पुलिस और न्याय व्यवस्था उन हाथों से संचालित हो रही है जो अथाह पूँजी के मालिक हैं. रणेंद्र की कहानियां जहां एक ओर इस दौर में जी रहे आदिवासियों के संकट और समस्याओं को दर्ज करती है वहीं दूसरी ओर तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद उनके संघर्ष और साहस को भी प्रस्तुत करती है.

*

संदर्भ

हाशिए के स्वर : भारतीय दलित साहित्य

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

डॉ आम्बेडकर की दृष्टि और दलित साहित्य का अभ्युदय

मूलचन्द्र गौतम

भारतीय समाज प्रारम्भ से ही बहुआयामी और बहुस्तरीय रहा है .उसका ऐतिहासिक विकास किसी भी दौर में एकरेखीय नहीं रहा .इसीलिए उस पर कोई एकमात्र इकहरा निर्णय देना मुश्किल भरा काम है .उसकी जटिल और अनेकान्तवादी संश्लिष्ट संरचना को समझे बिना कोई भारतीय संस्कृति को सम्पूर्ण रूप से समझने का दावा नहीं कर सकता . वाद विवाद और सम्वाद से निर्मित भारत के धर्म ,दर्शन ,इतिहास और साहित्य के मूल में समन्वय की अटूट शक्ति अंतर्निहित है .यही इस देश का राजनीतिक संस्कार और स्वभाव है जो तमाम तरह की असहमतियों ,विवादों के बावजूद इसे टूटने नहीं देता .कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी .

भारतीय समाज ने इतिहास की विकासमान प्रक्रिया में जितने पुनर्जागरण ,नवजागरण और बदलाव झेले हैं वे अंतिम और अनंतिम नहीं हैं .तमाम तरह के यूटोपिया की अवधारणाओं और संभावनाओं की असफलताओं ने भी मनुष्य जाति को अभी निराश नहीं किया है .भारतीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में सक्रिय शक्तियों की विविधता ने भी यह प्रमाणित कर दिया है कि गांधीजी के नेतृत्व में भले देश को तथाकथित आजादी मिली हो अंतिम आदमी की सम्पूर्ण आजादी अभी तक बाकी है .बहुसंख्यक वोटतंत्र के लोकतंत्र में ढीले ढाले तरीके से ही क्यों न सही विकास होता ही है . क्रमशः विसंगतियों से समाज मुक्त होने की ओर अग्रसर है .

यह आधुनिक भारतीय राजनीति की अनिवार्य नियति है कि गाँधी जैसे वटवृक्ष के संदर्भों के बिना इस कालखंड में किसी विचारधारा ,दल या व्यक्ति पर बात की ही नहीं जा सकती ,.गाँधी विरोधी इसे विडम्बना कह सकते हैं .यही स्थिति डॉ आम्बेडकर की है . भले ही वर्तमान दलित राजनीति की जरूरतों ने गाँधी और आम्बेडकर को वैचारिक रूप से आमने सामने खड़ा कर दिया है .गाँधी का अछूतोद्धार और अस्पृश्यता विरोध क्या अब अप्रासंगिक हो गया है ?इस पर विचार की जरूरत है .

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की मुख्य कांग्रेसी धारा का नेतृत्व करते हुए गाँधी में विरुद्धों के सामंजस्य की अद्भुत क्षमता थी ,जो साम्राज्यवादी शह के चलते मुस्लिम लीग को अंत तक नहीं साध पाई और जिसका परिणाम देश विभाजन के रूप में सामने आया .क्या यह गाँधी की असफलता नहीं थी या गाँधी अपने तथाकथित उत्तराधिकारियों की सत्ता लिप्सा पर निर्णायक रोक लगाने में अक्षम हो गये थे ?

12 नवम्बर की 1930 की पहली गोलमेज कांफ्रेंस के बाद 24 सितम्बर 1933 को सम्पन्न पूना पैक्ट के अंतर्गत किये गये राजनीतिक समायोजन को गाँधी आम्बेडकर सम्बन्धों का प्रस्थानबिन्दु माना जाय तो कहा जा सकता है कि दोनों के बीच यह लव हेट रिलेशनशिप चलती रही अन्यथा देश को पाकिस्तान की तरह द्लितिस्तान का एक विभाजन और झेलना पड़ सकता था . यह गाँधी का वैचारिक रणनीति कौशल था जिसने देश को एक बड़े हादसे से बचा लिया अन्यथा उनके हिन्द स्वराज और रामराज्य को एक और जबरदस्त पराजय का सामना करना पड़ता .

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के ब्राह्मणवादी वर्चस्व के वर्ण व्यवस्थापरक रूपक से मनुस्मृति तक के जड़ और रुढ़िवादी हिन्दू समाज की भेदभावपूर्ण जाति व्यवस्था तक स्त्रियों और दलितों को उनके मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया . इस मायने में मनुस्मृति ने तमाम तरह की विकृतियों और भेदभाव को सांस्थानिक रूप प्रदान किया जिन्हें आज तक भारतीय समाज अनेक रूपों में भुगत रहा है .यज्ञों में विहित हिंसा और कर्मकांडों के अतिवाद के विरुद्ध बुद्ध ने नव धर्म प्रवर्तन करके क्रांतिमार्ग को प्रशस्त किया था लेकिन पुरानी व्यवस्था की जड़ों को उखाड़ना इतना आसान

नहीं था . हिन्दू समाज में व्याप्त सती प्रथा ,विधवा विवाह ,बाल विवाह की कुरीतियों और धार्मिक अंधविश्वासों के विरुद्ध बंगाल से पुनर्जागरण शुरू हुआ जो देशभर में फैला लेकिन दलितों के उद्धार के बारे में कुछ नहीं हुआ इसी से दलितों में सवर्ण हिन्दू व्यवस्था के प्रति गहरी घृणा पनपी . मार्क्स ने हीगेल को जिस तरह शीर्षासन कराया उसी तरह की जरूरत भारतीय समाज को थी और है .महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले और डॉ आम्बेडकर ने इस शोषक व्यवस्था के विरुद्ध सैद्धांतिक और व्यावहारिक लड़ाई को आकार दिया जिसे देशव्यापी विस्तार मिला और दलित समाज को एक नई चेतना मिली .दलित लेखन समाज में दबे कुचलों को सम्मान और स्वाभिमान दिलाने का अभियान है .

डॉ आम्बेडकर की अंग्रेजी शिक्षा दीक्षा ने उनकी प्रतिभा को जो चमक दी थी उसका उपयोग उन्होंने बखूबी किया .1946 में हू वेयर द शूद्राज और .1948 में लिखी गयी उनकी किताब द अनटचेबल्स में उनके आधारभूत विचार मौजूद हैं .रिडिल्स ऑफ़ हिन्दुइज्म के बहाने उन्होंने हिन्दू समाज के पाखंडों को गहराई तक समझ लिया था . इससे स्पष्ट होता है कि डॉ आम्बेडकर भारतीय दलित आन्दोलन को गाँधी की तरह केवल सुधारों तक सीमित नहीं रखना चाहते थे बल्कि उसे सवर्ण हिन्दू विरोधी विचार ,राजनीति और धर्म से लैस करना उनका लक्ष्य था .संविधान में तमाम तरह के आरक्षणों की व्यवस्था से उन्होंने दलितों को आम शोषित लोगों से अलग विशेषाधिकारों से लैस किया जो सवर्णों को आज तक खटकता है जिसकी अभिव्यक्तियाँ गाहे बगाहे होती रहती हैं '.उनकी दृष्टि में भारतीय दलित मात्र वर्ग- शोषण का ही नहीं ,बल्कि वर्ण- जाति शोषण का भी शिकार रहा है .वर्गीय शोषण के चलते वह निर्धन था और वर्ण –जाति शोषण के चलते अछूत और अन्त्यज.आज भी दलित दूल्हे का घोड़ी पर चढना सामंतों को बर्दाश्त नहीं होता . 'गाँधी और कांग्रेस के वर्ग और वर्ण चरित्र के चलते रेडिकल डेमोक्रेट डॉ साहब आशंकित थे .इसीलिए वे राजनीति में दलित केन्द्रीयता के पक्षधर थे .प्रतिनिधित्व की कांग्रेसी राजनीति से उनके मोहभंग का यही कारण था .इसीलिए उन्होंने बुद्धिमत्ता से अंग्रेजी राज ,कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच व्याप्त अंतर्विरोधों के मध्य मार्ग में दलितों की सुरक्षित जगह तलाश की .दलित मुक्ति उनका परम लक्ष्य था जिसके बिना उन्हें देश की राजनीतिक मुक्ति भी पसंद नहीं थी .इसीलिए वे कांग्रेसी राज्य की तुलना में अंग्रेजी राज्य की प्रगतिशील भूमिका के प्रति अधिक आश्वस्त थे .यह उनकी व्यावहारिक नीति थी जो आज तक दलित राजनीति को प्रभावित करती है .कोई इससे असहमत हो तो हो उनकी बला से .इसीलिए उन्होंने तमाम अंतर्विरोधों की पर वाह किये बिना हिन्दू धर्म को त्यागकर बौद्ध धर्म स्वीकार किया और इस तरह भी दलितों का मार्गदर्शन किया लेकिन दलित फिर भी जाति मुक्त नहीं हो पाया है भले जाति संघर्ष का रूप बदल गया हो .

वर्तमान दलित राजनीति और अस्मिता पर डॉ आम्बेडकर के व्यक्तित्व और विचारों की गहरी छाप है भले उनके द्वारा स्थापित राजनीतिक दल विखंडित हो चुका हो और सत्ता की मलाई में हिस्से के चलते अवसरवाद तक का शिकार हो लेकिन उनके बिना आज भी सत्ता का ध्रुवीकरण असम्भव है . संकट डॉ आम्बेडकर की मूर्तिपूजा की आड़ में उनके विचारों की उपेक्षा का है .किसी महापुरुष को मिथक में बदलते हुए देखना उसके अंतर्विरोधों की अवहेलना में बदल जाता है .तब उसकी विचारधारा उसी तरह अवरुद्ध हो जाती है जिसके विरुद्ध वह खड़ी हुई थी . बुद्ध के साथ भी यह दुर्घटना हुई थी जिसने उन्हें अवतारों में प्रतिष्ठित कर दिया . गाँधी और डॉ आम्बेडकर के नाम जप के पीछे भी यही मंशा है .राजनीति केवल दलित अल्पसंख्यक जनहित के बजाय प्रतीकों से काम चलाने लगती है .लम्बे समय तक कांग्रेस ने दो चार चेहरों से यही किया. उत्तर प्रदेश में बसपा इसका

राजनीतिक नुकसान उठा चुकी है . वर्तमान में दलित राजनीति की बहुजन और सर्वजन तक की यात्रा का श्रेय डॉ आम्बेडकर की व्यावहारिक राजनीति को ही जायेगा . आज सभी राजनीतिक दलों को गाँधी की तरह राजनीतिक इस्तेमाल के लिए आम्बेडकर के नामोल्लेख की मजबूरी है, हे राम वाया रामजी उर्फ़ मूर्तिभंजन सहित .लेकिन इसे इतने भर तक सीमित न कर दिया जाय यह देखने की जरूरत है .यदा कदा दलितों के आरक्षण की समाप्ति और एस सी –एस टी एक्ट में संशोधन की आवाजें यों ही नहीं उठती रहतीं ? भारतीय साहित्य में हिंदी में निर्गुणी काव्य परम्परा में दलित कवियों की सक्रिय भागीदारी रही है जिसने सगुणवादी समाज और वर्ण –जाति आधारित व्यवस्था के सामने बड़े बड़े प्रश्नचिन्ह खड़े कर दिए थे .कबीर और तुलसी के बीच की बहस किसी भी तरह आधुनिक दलित विमर्श से कम नहीं बल्कि उसकी सशक्त पृष्ठभूमि ही है .बाद में प्रेमचंद ,निराला ,नागार्जुन..... ने हिंदी को दलित जीवन के अनेक मानवीय और विस्तृत आयामों से जोड़ा .यह हीरा डोम की चेतना का ही विस्तार था .भले बाद में दलित संगठनों द्वारा विरोधस्वरूप 31 जुलाई 2004 को रंगभूमि की प्रतियों को जलाया गया .अरुण शौरी ने अति उत्साह में 'वर्शिपिंग फाल्स गोड्स' लिखकर डॉ आम्बेडकर की अवमानना की कोशिश की .दलित चेतना इस तरह के अतिवादों के बीच सुरक्षित है ,यही गनीमत है . डॉ आम्बेडकर से प्रभावित समकालीन दलित लेखक किसी तरह भी इन पारम्परिक दलित और दलित सहानुभूति से भरे लेखकों को अपनाना नहीं चाहता . उसे उपदेशों से घृणा है .स्वानुभूति और सहानुभूति के बीच वह स्वानुभूति को ही तरजीह देना पसंद करता है . यही जैसे उसका विशेषाधिकार है .इस संकीर्णता के पीछे कहीं न कहीं सदियों की अमानवीय गुलामी का असुरक्षा बोध और मनोग्रन्थि है जो उन्हें सहज नहीं होने देती . भीम सेना इसी मानसिकता का संगठित हिंसक प्रतिरोध है. इसे केवल साहित्य में आरक्षण की चाह कहकर अवमूल्यित नहीं किया जा सकता .

डॉ आम्बेडकर ने पत्रकारिता और आंदोलनों के माध्यम से महाराष्ट्र में दलित चेतना को धार दी थी लेकिन साहित्य ,संस्कृति के क्षेत्र में उसका प्रभाव काफी बाद में दिखा क्योंकि वहाँ भी दलित समाज में पढ़े लिखे चेतनासंपन्न जागरूक मध्यवर्ग का उदय बहुत बाद में हुआ .हालांकि मराठी में ही दलित साहित्य की सशक्त शुरुआत हुई और बाद में उसका प्रभाव हिंदी में दिखा .दया पवार की आत्मकथा अछूत ने देश भर में धूम मचा दी थी जिसकी तर्ज पर मराठी दलित लेखकों ने आत्मानुभवों का विविध बृहत् संसार खोल दिया था . नामदेव ढसाल ने सत्तर के शुरूआती दशक में डॉ आम्बेडकर द्वारा स्थापित रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया के नेतृत्व के वैचारिक विचलन और अवसरवाद से निराश होकर अमेरिका के ब्लैक पैंथर आन्दोलन से प्रभावित होकर मराठी में दलित पैंथर आन्दोलन शुरू किया था .उनकी कविताओं में में धर्म ,सवर्ण हिंदुत्व जैसे वर्चस्ववादी विचार और संस्थाओं का खुलकर विरोध और घृणा को अभिव्यक्ति मिली थी .मुंबई के रेड लाइट एरिया गोलपीठा में बीता उनका बचपन जिस घृणा और उपेक्षा का शिकार था उसी की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में हुई . यह डॉ आम्बेडकर का नक्सलवादी विस्तार था जो यह प्रमाणित करता था कि वाम का वर्गवादी विचार उसका सहयोगी हो सकता है . हिंदी पत्रिका संचेतना के दलित विशेषांक से मराठी के दलित लेखन की एक मुकम्मल तस्वीर सामने आई थी .शरण कुमार लिम्बाले की अक्करमाशी की तरह हिंदी में ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन ,तुलसीराम की मुर्दहिया, शयोराज सिंह बेचैन की मेरा बचपन मेरे कंधों पर और अनेक महत्वपूर्ण आत्मकथाओं ने दलित लेखन में डॉ आम्बेडकर को विमर्श के केंद्र में खड़ा कर दिया . शोषकों के चेहरों को खुलकर नाम दिया गया . दलित समाज के शोषित जीवन के अनदेखे

अनछुए पहलू सामने आये .दलित लेखिकाओं ने भी अपनी अलग आवाज बुलंद की .डॉ धर्मवीर ने तो परम्परा और समकालीनता का एक ऐसा सम्पूर्ण दलित भाष्य ही खड़ा कर दिया जिससे राजेन्द्र यादव जैसे दलितों के गैर दलित पुरोधा और झंडाबरदार तक डर गये .दलितों को एक नये सौंदर्यशास्त्र की जरूरत महसूस हुई जो उनकी रचनाओं के साथ न्याय कर सके और उनके पाठ को सम्वेदनशीलता के साथ ग्रहण कर सके .क्योंकि अभी प्रेमचंद की तरह का दलित क्लासिक निर्माण की प्रक्रिया में है . सद्गति का दुखी और निराला का चतुरी चमार अभी तक रुढियों और अन्धविश्वास के कुंडे से जूझ रहा है . स्वयं के लिए दलित के बजाय देश के लिए दलित पर सोचने की उसे फुरसत ही नहीं है .क्या यही प्रतीकात्मक स्थिति विकास की कार्पोरेटी केन्द्रीयता से अलग थलग हाशिये पर फेंक दिए गये अल्पसंख्यकों ,आदिवासियों की भी नहीं है ?

मुझे आज भी 25 फरवरी 1996 का वह दिन याद है जब देहरादून में ओमप्रकाश वाल्मीकि को परिवेश सम्मान दिया गया था और मेरे सहपाठी मलखान सिंह के काव्यसंग्रह सुनो ब्राह्मण का लोकार्पण किया गया था .इस अवसर पर आयोजित हिंदी क्षेत्र में दलित लेखन व चिन्तन की चुनौतियाँ और सीमाएं पर केन्द्रित परिसंवाद में काशीनाथ सिंह , ओमप्रकाश वाल्मीकि ,डी प्रेमपति,अनिल चमडिया ,बेचैन इत्यादि लेखकों के बीच मूल बहस स्वानुभूति और सहानुभूति पर ही सिमट कर रह गयी थी .लगता था जैसे दो सेनाएं अपने अपने तर्कों और शस्त्रों से लैस होकर युद्धरत थीं .कोई किसी से हार मानने को तैयार नहीं .लगता है वह युद्ध आजतक जारी है . यों भी अभी तक गैर दलित लेखक खुले मन से दलित लेखन को नहीं अपना सके हैं और स्वयं दलित लेखकों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और शिविरबद्धता ने उनका खुद का कम नुकसान नहीं किया है . क्या यह दलितों में नव ब्राह्मणवाद का खतरा है ? घृणा की जूते मार राजनीति से दलित सत्ता में नहीं आ सकते .दलित नेतृत्व को कोई न कोई गठ्बन्धन करना ही पड़ेगा . कांशीराम ने इस मायने में डॉ आम्बेडकर की विचार परम्परा को व्यवहार में लाकर हिंदी प्रदेशों की सवर्ण केन्द्रित राजनीति में चमत्कार पैदा कर दिया . उत्तर प्रदेश में बसपा की सत्तासीन राजनीति के भटकाव के दौर में भी मध्यवर्गीय दलित लेखकों और लेखन को कोई खास लाभ नहीं हुआ जबकि सांस्कृतिक रूप से उसकी बेहद जरूरत थी .जाहिर है कि स्वार्थपरक व्यक्तिवादी दलित राजनीति और लेखन एक दूसरे के पूरक होने के बजाय परस्पर उपेक्षित रहे हैं .इस मायने में दलित लेखन राजनीति के आगे चलने वाली सचाई के बजाय पीछे घिसटने को बाध्य क्यों है .?उन्हें भी सर्वजन के बीच स्थापित होने के लिए व्यापक ऐतिहासिक दलित लेखन की परम्परा को स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा तो उनका लेखन साहित्य में आरक्षणवाद का शिकार होकर नितांत एकांगी और तात्कालिक होने को अभिशप्त होगा ?अब साहित्य में दलित लेखकों को एक्टिविस्ट होकर दलित शुद्धतावाद के बजाय क्रांतिकारी दलित चेतना के विस्तार के लिए इसके अवांगार्द- अग्रिम दस्ते के रूप में मीडिया के तमाम रूपों को भी जोड़ना पड़ेगा .तभी समाज में व्यापक बदलाव संभव हो पायेगा .

भारतीय दलित साहित्य और संस्कृति की यह विडम्बना ही कही जायेगी कि मराठी और हिंदी को छोडकर उसकी सम्पूर्ण भारतीय छवि को लेकर अभी तक कोई उल्लेखनीय दस्तावेजी कार्य नहीं हुआ है .साहित्य अकादमी जैसी संस्थाओं को यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिए .

(साहित्य अकादमी ,दिल्ली द्वारा 14 अप्रैल 2018 को आयोजित परिसंवाद में पठित आलेख)

@ शक्तिनगर,चन्दौसी ,संभल 244412 मोबाइल - 9412322067

EMAIL –moolchand.gautam@gmail.com

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

दलित महिलाओं के अभावग्रस्त जीवन में पोषक तत्वों का महत्व

ममता श्रीवास्तव,
पी.एच.डी,
गृह विज्ञान विभाग,
लानामिाविावि, दरभंगा

मानव जीवन के उचित विकास हेतु पोषक तत्वों से भरपूर भोजन की आवश्यकता होती है। किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ गरीबी, अशिक्षा तथा स्वस्थ्य की स्थिति इतनी ख़राब है उस स्थिति में समाज के उपेक्षित तथा हाशिए के लोगों की स्थिति का मूल्यांकन हम स्वयं कर सकते हैं। ऐसे लोग स्वास्थ्य सम्बन्धित शिक्षा, स्वच्छता की बातें तथा पोषण सम्बन्धित जानकारियों से अंजान रहते हैं। इसका कारण है दलित लोगों के पारिवारिक, आर्थिक तथा समाजिक स्थिति में विद्यमान गिरावट। इसे लगातार सरकारी तथा गैर सरकारी उपक्रम द्वारा समाप्त करने की कोशिश की जा रही है। लेकिन आज भी स्थिति बहुत अच्छी नहीं हुई है। कुछ लोग जो उसी समाज में थोड़े जागरूक हो गए हैं और आगे बढ़ गए हैं वे स्वस्थ्य और पोषण के क्षेत्र में धीरे-धीरे अपनी पहुँच बना रहे हैं। लेकिन समाज के वैसे लोग जो आज भी मलीन, गंदी तथा झोपड़ीनुमा स्थान में निवास करते हैं उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति उतनी अच्छी नहीं होती कि वे भर पेट भोजन ठीक से खा पाएं। ऐसी स्थिति में पोषण का संतुलन अपने खान-पान में बनाए रखना एक चुनौती भरा विषय है।

दैनिक जीवन में प्रयोग करनेवाले भोजन में भी पोषण के तत्वों को संतुलित रखने की कोशिश की जा सकती है। हमारे पर्यावरण में ऐसे बहुत सारे भोज्य पदार्थ मौजूद हैं जो हमारे स्वास्थ्य की स्थिति को ठीक रख सकते हैं। प्रश्न यह उठता है कि पोषण तत्व किसे कहते हैं तथा वैसे खाद्य पदार्थों की पहचान कैसे की जाए जिसमें निम्नलिखित पोषक तत्व शामिल है- प्रोटीन, कर्बोहाइड्रेड, वसा, विटामिन, खनिज तथा लवण आदि। इसके साथ यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि मानव शरीर में आवश्यक मात्रा के आधार पर पोषक तत्वों का संतुलन कैसे रखा जा सके! पोषक तत्वों को आवश्यक मात्रा के आधार पर दो भागों में बाँटा गया है। समाज के गरीब तथा दलित समाज के लोग उपलब्ध संसाधनों के आधार पर अपने जीवन में पोषक तत्वों की पूर्ती कर सकते हैं। इसका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

I. अधिकता वाले पोषक तत्व-इसमें कर्बोहाइड्रेड, प्रोटीन तथा वसा आते हैं। शरीर के उचित विकास में इन पोषक तत्वों की अधिक आवश्यकता होती है।
II. न्यूनता वाले पोषक तत्व-इसमें खनिज, लवण और विटामिन आते हैं। ये भी शरीर के विकास हेतु बहुत महत्वपूर्ण हैं। किन्तु शरीर को इसकी कम मात्रा में आवश्यकता होती है।

अधिकता वाले पोषक तत्व:-

प्रोटीन-शरीर की बढोत्तरी तथा विकास के रख-रखाव के लिए प्रोटीन की बहुत आवश्यकता होती है। इसके प्रमुख स्रोत हैं विभिन्न किस्म की दालें, सोयाबीन, मटर, लोबिया, राजमा, बादाम, और दूध तथा इससे बनें पदार्थ, मांस, मछली तथा अंडे आदि भी इसमें शामिल हैं।

कर्बोहाइड्रेड-शरीर को शक्ति प्रदान करता है। यह सभी किस्मों के अनाजों में जैसे- गेंहू, मक्का, जौ, चावल, साबूदाना, ज्वार-बाजरा आदि में पाया जाता है। यह जमीन के भीतर पाए जानेवाली सब्जियों में भी पाया जाता है जैसे, आलू, शलजम, शकरकंद, चुकंदर आदि में प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसके अतिरिक्त यह शहद, गन्ना, शक्कर, गुड़, खजूर, अंगूर तथा अन्य फल तथा दूध भी इसके प्रमुख स्रोत हैं।

वसा-शरीर को सबसे अधिक ऊर्जा प्रदान करता है। यह सरसों, नारियल, मूंगफली, टिल, बादाम, सूखे मेवे आदि में बहुतायत मात्रा में पाया जाता है। इसके अलावा मछली, चर्बी, अंडे, घी, मलाई, दूध, मख्खन आदि में यह प्रचुर मात्र में पाया जाता है।

न्यूनता वाले पोषक तत्व:-

कैल्शियम-यह दांतों और हड्डियों के विकास के लिए बहुत आवश्यक होता है। दूध एवं दूध से बने स्रोत इसका सर्वोत्तम स्रोत हैं। इसके अतिरिक्त सहजन, पालक, हरी पत्तीदार सब्जियां, मेथी का साग, पत्ता गोभी, शलजम, सूखा नारियल एवं रागी इसके मुख्य स्रोत हैं।

लौह तत्व-यह शरीर में खून बनाने के लिए अति आवश्यक है। यह अनीमिया से भी बचाव करता है। हरी पत्तेदार सब्जियां, चना, दालें, केला, चिवड़ा, गुड़, रागी, मांस,अंडे, सूखे मेवे इसके मुख्य स्रोत हैं।

विटामिन ए-आँखों की अच्छी रोशनी के लिए यह अतिआवश्यक है, यह गाजर, मटर, पालक, केला, पपीता, आम, सेब, नारंगी, टमाटर, गोभी तथा अन्य हरी पत्तेदार सब्जियों एवं पीले फलों में होता है। इसके अलावा दूध, मठ्ठा, घी, मक्खन, अंडे, मछली क तेल इसके स्रोत हैं।

विटामिन बी-सम्पूर्ण अनाज, हरी साग, सब्जियां, दाल दूध, अंडे, मांस, मछली, मोंगफली, अंकुरित चना, मटर आदि में यह अधिक मात्रा में पाया जाता है।

विटामिन सी-यह रसदार फल जैसे आंवला, अमरुद, नीम्बू, संतरा, टमाटर, अंगूर और हरी साग सब्जियों जैसे चौलाई साग, पत्ता गोभी, सहजन की पत्ती, धनियाँ पत्ती आदि में पाया जाता है। अंकुरित अनाज विटामिन सी के उत्तम स्रोत हैं।

विटामिन डी-हड्डियों और दांतों की मजबूती के लिए यह अति आवश्यक है। हमारे शरीर को प्राथमिक रूप विटामिन डी सूर्य की रोशनी से मिलती है। इसके अतिरिक्त यह दूध, दही, मक्खन, मछली और ताजे फल भी इसके महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

उपरोक्त वर्णन तो पोषण के तत्वों और इसके स्रोत से सम्बंधित हैं किन्तु समाज के वैसे लोगों तक यह जानकारी कैसे पहुंचाई जाए जो जागरूक तथा शिक्षित नहीं हैं। हमारे देश में स्वास्थ्य और पोषण की स्थिति अभी भी चिंताजनक बनी हुई है पर इसमें भी विभिन्न कारणों से महिलाओं के पोषण व स्वास्थ्य का संकट आज भी विद्यमान है। घर- परिवार के बीच रहते हुए अन्य परिजनों का ध्यान रखने वाली महिला स्वयं के प्रति ही लापरवाह होती जाती है। घर वाले भी महिला की स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को गंभीरता से नहीं लेते हैं। महिला स्वास्थ्य के प्रति लापरवाही का नतीजा है कि भारत में मातृ-मृत्यु दर नेपाल, श्रीलंका जैसे कम विकसित देशों से भी अधिक है। महिलाओं की भूमिका को बच्चे को जन्म देने व उनका पालन-पोषण करने तक ही सीमित माना जाता है। श्रम के समाज-वैज्ञानिक विभाजन में बच्चों व घर के प्रति महिलाओं का उत्तरदायित्व अधिक होता है। शिक्षा, गतिशीलता व सूचना तक उनकी पहुंच कम होती है। विशेषरूप से दलित महिलाओं को परिवार तथा समाज के तीहरे शोषण से गुजरना पड़ता है। ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य के क्षेत्र में उनकी पहुँच को कैसे बढाया जाए, यह एक चुनौती भरा प्रश्न है।

स्वास्थ्य देखभाल व सुविधाओं का उपयोग करने के लिए उनके पास वित्तीय संसाधनों का अभाव होता है। सरकार द्वारा स्वास्थ्य की सुविधाएं जन-जन व गांव-गांव तक सुचारू रूप से पहुंचाने के उपरांत ही महिलाओं के स्वास्थ्य में उत्तरोत्तर वृद्धि संभव है। गर्भ के दौरान, प्रसव के समय अथवा उसके कुछ दिन पश्चात दम तोड़ती नारी एक मानवीय त्रासदी है। यह वह समय होता है, जब महिलाओं को अतिरिक्त देखभाल और पोषण आहार की आवश्यकता होती है। परंतु ऐसे समय में भी महिलाओं को जरूरत अनुसार पोषण नहीं मिल पाता है, लिहाजा महिला के शरीर में पोषण तत्वों की कमी बढ़ती है। आंकड़ों के अनुसार हमारे देश में करीब 70 प्रतिशत सामान्य महिलाओं

और 75 प्रतिशत गर्भवती महिलाओं में खून की कमी देखी गई है। गर्भावस्था के दौरान केवल 37 प्रतिशत महिलाओं को उचित देखरेख मिल पाती है। पिछले कुछ समय से सरकार द्वारा स्वास्थ्य सुविधाओं के क्षेत्र में प्रयास किए जा रहे हैं। लेकिन आज भी अतिपिछड़े वर्ग के लोगों की स्वास्थ्य की स्थिति में अधिक सुधार नहीं हुआ है।

किशोर लड़कियों में अनीमिया (खून की कमी) के बढ़ते मामलों को देखते हुए स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने 10-19 वर्ष के बच्चों को सप्ताह में एक बार आयरन और फोलिक एसिड की खुराक देने की व्यवस्था की है। विद्यालयों के अंदर और बाहर 3 करोड़ से अधिक बच्चे इस कार्यक्रम का लाभ उठा चुके हैं। इसके साथ ही विभिन्न आयु वर्ग के बीच आयरन की कमी और अनीमिया की रोकथाम और उसके इलाज के लिए आयरन प्लस पहल शुरू की गई है। इसके अंतर्गत भयंकर अनीमिया से पीड़ित 6 महीने से लेकर 10 वर्ष तक के बच्चों, 10 से 19 वर्ष के किशोर-किशोरियों, गर्भवती और स्तनपान कराने वाली माताओं और प्रजनन के लिए तैयार 15 से 45 वर्ष की महिलाओं को आयरन और फोलिक एसिड की खुराक देने के साथ-साथ उनके लिए चिकित्सा संबंधी व्यवस्था भी की गई है।

यद्यपि हमारे समाज में लड़कियों के साथ पोषण और स्वास्थ्य में अभी भी कमोबेश भेदभाव किया जाता है, जो कि चिंता का विषय है। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में एक लड़की की सड़क दुर्घटना में हुई मृत्यु पर ट्रिब्यूनल ने मुआवजा देने से यह कहते हुए इंकार कर दिया था कि लड़की की मौत पर कैसा मुआवजा? वह तो स्वयं माता-पिता पर बोझ थी। हालांकि बाद में इस घटना पर हुए विवाद में फैसला वापस ले लिया गया पर इस घटना ने नारी को लेकर समाज की सोच को फिर एक बार उजागर किया।

आज भारतीय समाज में महिलाओं का स्वास्थ्य धीरे-धीरे ही सही किंतु उसमें सुधार हो रहा है और सकारात्मक दिशा की ओर बढ़ रहा है। राष्ट्र की स्वास्थ्य प्रणाली में महिलाओं की सेहत संबंधी समस्याओं को मातृ स्वास्थ्य के अंतर्गत रखा गया हैं 15-40 आयुवर्ग की महिलाओं को जैविक रूप से कमजोर माना जाता है क्योंकि उन्हें गर्भावस्था का अतिरिक्त जोखिम भी बना रहता है। भारत में मातृ मृत्यु दर 167 प्रति लाख है यद्यपि महिला स्वास्थ्य की हालत कई वजह से कमजोर है। हमारे राष्ट्र में कुपोषण आज भी महिलाओं के कमजोर स्वास्थ्य की एक महत्त्वपूर्ण वजह है। विशेषरूप से ऐसे समाज की स्थिति तो और भी चिंताजनक है जिनके पास न तो शिक्षा है न जागरूकता और न ही भर पेट उन्हें भोजन मिल पता है। ऐसे में उनके जीवन में पोषण की स्थिति चिंताजनक है।

भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद (आईसीएमआर) की एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार आज भी 48 प्रतिशत महिलाएं कुपोषित हैं। कमजोर मनो-सामाजिक स्थिति एवं अपेक्षाकृत कम स्वास्थ्य सुविधा भी इसका मुख्य कारण है। महिलाओं के साथ खान-पान का भेदभाव ही कुपोषण की एक बुनियादी वजह और चिंतनीय कारक है। उल्लेखनीय है कि कुपोषण कोई संक्रामक रोग नहीं है लेकिन इसके शिकार बच्चे जीवन भर के लिए शारीरिक और मानसिक रूप से कमजोर हो जाते हैं।

छोटे-छोटे शहरों, कस्बों और गांवों में भी जन सामान्य को प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों की सुविधाएं दी जा रही हैं बावजूद इसके आज भी अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में घर में ही प्रसव कराने का चलन है। रूढ़िवादी और पारंपरिक मानसिकता के चलते प्रसव के लिए अस्पताल जाने की जरूरत महसूस नहीं की जाती है। आज भी भारत में 16 प्रतिशत आबादी चिकित्सा सुविधाओं से वंचित है। तरक्की और विकास के बावजूद भी भारत में मातृ मृत्यु दर अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक है।

महिला स्वास्थ्य को अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और जागरूकता भी प्रभावित करती है। कहा भी गया है कि यदि एक महिला शिक्षित होती है तो पूरे परिवार पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ता है। शिक्षित माता अपने बच्चे के स्वास्थ्य, उसके पालन-पोषण का विशेष ध्यान रखती है। आंकड़े भी बताते हैं कि साक्षरता में अव्वल केरल जैसे छोटे राज्य में पंजाब जैसे संपन्न राज्य की तुलना में टीकाकरण का प्रतिशत कहीं अधिक है। इस लिहाज से हम कह सकते हैं कि जिस समाज में शिक्षा तथा जागरूकता की स्थिति अच्छी है वहां महिलाओं के जीवन में पोषण तथा स्वास्थ्य की स्थिति भी अच्छी है। अत: हमें दलित समाज की महिलाओं में अगर स्वास्थ्य तथा पोषण की स्थिति को ठीक करना है तो सवर्प्रथम शिक्षा और जागरूकता को बढ़ाना होगा। इसके लिए स्वास्थ्य तथा स्वच्छता की दिशा में सरकारी तथा गैर सरकारी हस्तक्षेप की अति आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ:-

1. Schmid, M। A।, Egeland, G। M।, Salomeyesudas, B।, Satheesh, P। V।, & Kuhnlein, H। V। (2006)। Traditional food consumption and nutritional status of Dalit mothers in rural Andhra Pradesh, South India। *European journal of clinical nutrition*, *60*(11), 1277।
2. Petchesky, R। P। (2000)। Human rights, reproductive health and economic justice: why they are indivisible।
3. Zhu, Y।, Pandya, B। J।, & Choi, H। K। (2011)। Prevalence of gout and hyperuricemia in the US general population: the National Health and Nutrition Examination Survey 2007–2008। *Arthritis & Rheumatism*, *63*(10), 3136-3141।
4. Kuhnlein, H। V।, Erasmus, B।, & Spigelski, D। (2009)। *Indigenous peoples' food systems: the many dimensions of culture, diversity and environment for nutrition and health*। Rome, Italy: Food and Agriculture Organization of the United Nations।
5. Kuhnlein, H। V।, Erasmus, B।, Spigelski, D।, & Burlingame, B। (2013)। *Indigenous peoples' food systems and well-being: interventions and policies for healthy communities*। Food and Agriculture Organization of the United Nations (FAO)।
6. Saxena, N। C।, & Srivastava, N। (2009)। ICDS in India: policy, design and delivery issues। *IDS Bulletin*, *40*(4), 45-52।

"दलित स्त्री लेखन की उपलब्धियां और सम्भावनाएँ"

-तुपसाखरे श्यामराव पुंडलिक
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद,
पीन- 500046

दलित स्त्री की लेखन प्रक्रिया में एक तरफ जहां आशावाद की किरणें नजर आती हैं तो दूसरी ओर दलित आदिवासी तथा स्त्री की गरीबी, निर्बलता और विवसता भी दिखाई देने लगती है, साथ ही दलित स्त्री के उपर होनेवाले प्रतिदिन की घटनाएं बढते अन्याय-अत्याचार साफ तरह से दिखाई देते हैं। इस आलेख में दलित स्त्री लेखन की उपलब्धियां क्या रही है और आगे क्या सम्भावनाएं हो सकती है इस पर प्रकाश डालने की कोशिश की जा रही है।

दलित स्त्री लेखने एक आंदोलन की भांति है उसमें आदोलन की अधिक दिशा नजर आने लगती है। दलित कवयित्रियां लेखन के साथ-साथ आंदोलन को भी महत्व देने में आगे आने लगी है। कहना होगा कि दलित स्त्री लेखन एक आंदोलन है, जिसमें उनके उपर हुए अन्याय-अत्याचार को उद्वेलित करने का कार्य हो रहा है। दलित स्त्री के हीत में अनेक संगठन कार्य में लगे हुए है और उसमें दलित लेखिकाओं की भागीदारी विशेष है। दलित महिलाओं के आंदोलन पर पीटर जे. स्मिथ का कहना है कि, "यह आंदोलन अब विश्व व्यापी बन चूका है।"[ii] उनका मानना है कि, आज दलित स्त्री संगठन में जो विश्वव्यापी प्रवृत्ति निर्माण हुई है उसके पीछे का कारण उनके द्वारा निर्मित मानव अधिकारों की मूल्यों को अपनाना है। दलित स्त्री लेखन के मूल्यों में समता, स्वतंत्रता का सबसे अधिक स्थान दिखाई देता है। दलित स्त्री लेखन आंदोलन का नया पाडाव है। केवल इसे नया कहना ही पर्याप्त नहीं है यह भारतीय सामाजिक कुव्यवस्था के विरोध में लेखन परम्परा का ऐतिहासिक दस्तावेज है। प्रो.बजरंग विहारी तिवारी दलित स्त्री लेखन और दलित नारीवाद को स्पष्ट करते हुए लिखते है, कि "दलित नारीवादी दलित स्त्रियों द्वारा अपनी स्थिति को अलग से रेखांकित किए जाने के बाद उभरा है। वैसे तो दलित स्त्रियां कमोबेश दलित लेखन के शुरुआत से ही सक्रिय रही हैं। लेकिन दलित नारीवाद बाद का विकास है। जाति और लिंग के सम्मिलित बोध ने दलित नारीवाद की वैचारिक जमिन तयार की है।"[iii] दलित नारीवाद को दलित लेखन से भिन्न एक अलग श्रेणी में रखना चाहिए या नहीं यह विवाद का विषय है परन्तु दलित साहित्य से दलित स्त्री लेखन को अलग कैटेगरी में रखना नहीं चाहिए, उसे दलित लेखन के भीतर में ही रखा गया ताकि दलित साहित्य में एकता टिकी रहे। दलित स्त्री लेखन को अलग से स्वीकृति मिलने के बाद व्यापक दलित एकता टूटेगी दलित साहित्य का मुख्य हेतू हासिल करने में बादा उत्पन्न होगी साथ ही दलित आंदोलन कमजोर होगा। दलित स्त्रियों की अनेक समस्याएं दलित साहित्य में नहीं आ रही है इसलिए दलित स्त्री को अलग से अपनी लेखनी चलाना पडा। इस लेखन को देखकर कुछ साहित्यकार है जिन्होंने दलित स्त्री लेखन पर अलग से विचार नहीं होना चाहिए इतना ही नहीं बल्कि उसे दलित आंदोलन और लेखन में विशेष अहमियत भी नहीं मिलनी चाहिए। ऐसी सोच को बजरंग बिहारी तिवारी जवाब के तौर पर लिखना चाहते है कि, "इस समझ के बरक्स दलित नारीवाद की पैरोकार लेखिकाएं पितृसत्ता के प्रश्नो को जाति समस्या के बराबर रखती है। वे जानते है कि, दलित साहित्य को साहित्य की एक भिन्न और स्वतंत्र कैटिगरी के रुप में स्वीकृति आसानी से नहीं मिली है दलित लेखकों ने तमाम अवरोंधो, निषेधकारी तर्को को पार करके ही वांछित स्वीकृति पाई है। तो तर्क दलित साहित्य को स्वीकृति दिलाने के लिए प्रस्तुत किए गए वही दलित नारीवादी साहित्य के संदर्भ में भी लागू होता है।"[iv] दलित महिलाओं का शोषण सर्वाधिक हुआ है लेकिन साहित्य की मुख्यधारा में उनका जीवन अनुपस्थित रहा है, मुख्यधारा की बात छोडिए दलित साहित्य में भी वह पर्याप्त प्रतिनिधित्व

की भागीदार नहीं बन पाई है। जिस प्रकार दलित साहित्य को रचने के लिए दलितों की पीडा की स्वानुभूति की आवश्यकता लगी है ठिक वैसे ही दलित स्त्री लेखन की सर्जना को भी दलित स्त्री की पीडा, यातनाओं की स्वानुभूति की आवश्यकता अनिवार्य ही होगी। दलित स्त्रियां जाति और पितृसत्ता दोनों का सम्मिलित अत्याचार झेलती है। इसलिए उनका अनुभव दूसरों से भिन्न और विशिष्ट है। दलित स्त्री लेखन के द्वारा भारतीय समाज व्यवस्था के सामने ऐसे अनेक अप्रत्याशित, अनसुने और आधारभूत सवाल किए साथ ही उसने दलित लेखकों, विचारों व कार्यकर्ताओं के समक्ष ऐसे-ऐसे जटिल सवाल प्रस्तुत किए उस सवाल के जवाब देने में नाकाम हो जाते हैं। इतना सब कुछ होने के बावजूद बजरंग बिहारी तिवारी जैसे विचारक भी स्त्री लेखन को अभी भी प्रारंभिक अवस्था में रखते हुए दिखाई देते है, उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "इस स्थिति में जाति विरोधी संघर्ष को सपाट होने से बचाया और विचार के नए आयाय तथा संघर्ष के नए मोर्चे खोले दलित नारीवाद बुनियादी सवालों को लेकर चला है और यह समाज की बुनियाद की बदलने की क्षमता रखता है। क्योंकि दलित नारीवाद अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही है। इसलिए उसकी क्षमताओं का ठीक-ठीक आकलन इस वक्त नहीं किया जा सकता।"[v]

इसका सीधा-सीधा अर्थ है कि, दलित स्त्री लेखन का प्रारंभिक दौर शुरु है, साथ ही दलित स्त्री संगठित होने, आंदोलनों को चलाने का सीधा मतलब स्त्री जीवन की स्थिति में परिवर्तन की शुरुआत हुई है।

दलित स्त्री लेखन की उपलब्धियां

हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण उपलब्धी है कि दलित स्त्री का लेखन प्रक्रिया में आना। उन्होंने अपने अनुभव स्वत: रचनाओं के माध्यम से समाज के सामने रखने की सफल कोशिश करने में तत्पर है। वैसे हिंदी दलित स्त्री लेखन में अनेक कमियां है परन्तु उन कमियों को दूर करने के प्रयत्न जारी है। केवल ऐसा नहीं बल्कि उनके लेखन की कुछ उपलब्धियां भी सामने आती है उसे चित्रित करना महत्वपूर्ण ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। कारण ऐसा करने से दलित स्त्री लेखन की दिशा और दशा को भी तय किया जा सकता है।

दलित स्त्रियों का कारवां

दलित स्त्री लेखन की उपलब्धियां रही है कि वह लेखन के साथ-साथ स्वयं दलित आंदोलन को साथ लेकर चलने में अपनी सार्थक भूमिका अदा करती है। डॉ. अम्बेडकर भारतीय साहित्य के साथ-साथ विदेशी साहित्य के अच्छे जानकार थे उन्होंने अध्ययन में पाया कि विदेश में स्त्रियों को किस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त है और भारत में स्त्री जीवन की क्या हालत है। साहित्य अध्ययन के दौरान हमारे सामने कई उदाहरण है जिसमें बुद्ध की थेरियों से लेकर सावित्रीमाई फुले व अन्य उनकी कई महिला मित्र थी जिन्होंने स्वयं पढ-लिखकर बाद में समाज के विकास और परिवर्तन के लिए कार्य किया है। आगे जाकर डॉ. अम्बेडकर के समय का काल स्त्रियों के लिए सवर्ण काल समझा जाता है। कारण उनके साथ दलित स्त्रियों का कारवां बढकर आगे आने लगा और अपने हक एवं अधिकारों की मांग करने लगा। अनिता भारती लिखती है, "डॉ. अम्बेडकर के समय में चले दलित आंदोलन में लाखों-लाख शिक्षित-अशिक्षित, घरेलू, गरीब मजदूर, किसान व दलित शोषित महिलाएं जुडीं। जिन्होंने जिस निर्भीकता बेबाकी और उत्साह से दलित आंदोलन में भागीदारी निभाई वह अभूतपूर्व थी। दलित महिला आंदोलन और डॉ. अम्बेडकर के साथ महिला आंदोलन की सुसंगत शुरुआत 1920 से मान सकते हैं हालांकि सुगबुगाहट सन 1913 से ही हो गई थी।"[vi] 1920 में 'भारतीय बहिष्कृत परिषद' की सभा में शाहू महाराज की अध्यक्षता में हुई सभा में पहली बार दलित महिलाओं ने भाग लेकर अपनी उपस्थिति दर्ज की थी। उस सभा में तुलसीबाई बनसोडे और रुकमणिबाई लडकियों को उनकी भाषा में शिक्षा की

ताकत का महत्व बताकर उनमें परिवर्तन की जोति जगाई। आगे चलकर देशभर में स्त्री कारवां दलित महिला आंदोलन के रुप में आकार ले रहा दिखाई देने लगा। तभी 20 जुलाई 1924 ई. में मुंबई में आयोजित 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की गई। "बहिष्कृत हितकारिणी सभा की अधिसंख्य सभाएं जो जगह-जगह गांव देहातों में आयोजित की जाती थी। उनमें दलित महिलाओं की उपस्थिति लगातार रही है। इस समय दलित महिलाएं अपने समाज और परिवार जनित पीडा को सार्वजनिक रुप से अभिव्यक्त कर रही थीं। पर उनकी अभिव्यक्ति अधिकतर गानों व स्वागत गान रुप में ही होती थी।"[vii] इस प्रकार के गित गाने के लिए वेनुमाई भटकर और रंगमाई शुभरकर अपने मधुर कंठ से दलित पीडा की मार्मिक और संघर्षपूर्ण अभिव्यक्ति को गीतों में ढालकर समाज को संबोधित करती थी।

ज्योतिराव फुले, डॉ. अम्बेडकर के स्त्री उद्धार कार्य से दलित महिलाओं ने आंदोलन को स्वयं चलाने का निर्णय लेकर दलित स्त्रियों का कारवां निर्माण किया और उनको अधिकार दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसमें जईमाई चौधरी का नाम आता है, "एक दलित महिला द्वारा दलित बच्चियों के लिए विद्यालय स्थापित करना। उच्च शिक्षित दलित महिला जाईमाई चौधरी जो बाद में सशक्त दलित महिला नेता के रुप में स्थापित हुई। उन्होंने 1924 में चोखा मेला कन्या पाठशाला आरंभ की। जाईमाई चौधरी स्वयं बहुत ही मुसीबतों से पढ लिख पायी थी। जाईमाई चौधरी शिक्षिका के साथ-साथ एक जागरुख लेखिका एवं अच्छी वक्ता भी थीं। जाईमाई चौधरी बाबासाहब के कार्य से और शिक्षा प्रणाली से प्रभावित होकर उनकी पक्की अनुयायी बनी थी।"[viii] इस प्रकार जाईमाई चौधरी ने डॉ. अम्बेडकर की स्त्री विषयक विकास की दृष्टि का प्रचार-प्रसार करके स्त्री शिक्षा को अत्याधिक महत्वपूर्ण मानते हुए स्त्री शिक्षा पर बल दिया। इस प्रकार दलित महिला आंदोलन की माला में संघर्ष का एक मोती और जुड गया। दलित कवयित्रियां लेखन कार्य के साथ-साथ अम्बेडकरवादी आंदोलन को आगे बढाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अम्बेडकरवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार करना ही उनके लेखन का महत्वपूर्ण इद्देश्य हैं।

विश्वव्यापी दलित स्त्री लेखन

हिंदी का दलित साहित्य जिस प्रकार से विश्व में अपना डंका बजाने लगा है। वैसे ही दलित स्त्री कवयित्रियां भी अपनी अभिव्यक्ति को न केवल सिमीत रखती है बल्कि उसे विश्वव्यापी बनाकर भारतीय समाज में दलित स्त्री की योग्यता को समझाने लगी है। यह अलग है कि ब्राह्मणवादियों के मन में उनके प्रति ऐसा करने से कोई सहभाव नहीं है परन्तु उन्हें सच्चाई के सामने कुछ करने का साहस ही नहीं होता। यही वजह है कि दलित स्त्री अपने साथ हुए अन्याय के खिलाफ आावाज उठाने से न ही परिवार के सदस्यों से डरती है और नहीं सवर्ण मानसिकता से डरती है। दलित कवित्रियों की हिंम्मत व संयुक्त राष्ट्र संघ के सहयोग से दलित स्त्री लेखन को विश्वव्यापी बनने में बडी सहायता प्राप्त हुई है। "दलित महिलाओं का आंदोलन बीजिंग के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन से देश की परिधि बाहर भी विस्तृत होने लगता है। इसमें संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने संम्मेलन में स्वयंसेवी संस्था एवं विश्वव्यापी नेटवर्क के लिए एक जगह प्रदान किया है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकारों पर जोर दिए जाने से दलित महिलाओं के आंदोलन को बल मिला है।"[ix] इस प्रकार से संयुक्त राष्ट्र के दबाव के कारण सभी देशों को दबाव में बनाया जा सकता है। स्मित लिखते है, "स्वयं सेवा संस्था अपना देस की परिधि से बाहर दलितों एवं उपेक्षितों की स्थिति को सामने लाकर 'शर्मनाक' तथ्यों को दर्शाते हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय कार्य से उन देशों की सरकारों पर संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्थाओं का एक

राजनीतिक और नैतिक दबाव पडता है तब ये देश उस दिशा में सक्रिय होते दिखते है।"[x] दलित कवयित्रियों ने विश्व के अनेक देशों में यात्राएं की है। रमणिका गुप्ता भी "विश्व के उन्नीस देशों की यात्रा कर चुकी हैं। भारत के प्रतिनिधि के रुप में उन्होंने मजदूर परिषद मैक्सिको, बर्लिन, रुस, युगोस्लव्हिया, फिलीपाईन्स, तथा क्यूबा में भाग लिया। उन्होंने कई राष्ट्र की साहित्यिक यात्राएँ की हैं। अमेरिका, कनाडा, हाँगकाँग, बँकॉक, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, नार्वे, स्विटजरलैण्ड का दौरा किया है।"[xi]

संयुक्त राष्ट्र संग के अलावा अनेक सामाजिक संस्थाएं दलित स्त्री के लिए कार्य करने में तत्पर है जैसे- विश्व सामाजिक मंच, हेग सम्मेलन, ऑल इंडिया दलित वूमेन फोरम, महिला दल, बहुजन महिला संघ, बहुजन महिला परिषद आदि कई संगठन है जो दलित स्त्री के हीत में कार्य करने में आगे है। विश्व सामाजिक मंच में जनवरी 2007 में अफ्रीका एवं दक्षिण एशिया की महिलाएं एकत्र आयीं। ये मंच जाति एवं रंगभेद की नीति के प्रतिरोद में था इसमें भी दलित महिलाओं के मुद्दे पर विचार किया गया। विश्व सामाजिक मंच वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभाव के खिलाफ एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिरोध है। दलित महिलाओं ने विश्व सामाजिक मंच में वैश्वीकरण को दलित समाज और उनके उपर हो रहे नकारात्मक प्रभाव को हमेशा से सामने रखने का सफल प्रयास किया है। नेशनल कैंपेन ऑन दलित ह्यूमन राइट्स (एनसीडीएचआर) ने 2003 में वैश्वीकरण के दलित महिलाओं पर हो रहे दुष्परिणाम को उजागर किया। विमल थोरात इस एनसीडीएचआर की सदस्या है जे कि दलित है। उन्होंने बताया है कि, "दलित महिलाओं को वैश्वीकरण का दुष्परिणाम सबसे ज्यादा झेलना पडता है। इसमें दलित महिलाओं में गरीबी, बेरोजगारी, श्रमिकों की दुर्दशा, अनौपचारिक क्षेत्रों में वृद्धि, निजीकरण में वृद्धि, कल्याणकारी योजनाओं में कटौती, सार्वजनिक क्षेत्रों में नौकरियों में कमी, स्वास्थ्य सुविधाओं का महंगा होना शामिल है। इसके साथ ही कृषि का वाणिज्यीकरण, पाणी जैसे संसाधनों का निजीकरण आदि से ग्रामीण इलाकों में रहनेवाले दलित महिलाओं के परेशानी हो रही है। दलित महिलाएं जो सर पर मैला ढोने के कामों में लगी हुई हैं। उनके प्रश्न पर भी चिन्तन किया गया।"[xii]

विविध विधाओं में लेखन कार्य

दलित स्त्री को समाज के द्वारा गूँगा पैदा करना पहला अभिशाप है, लडकी को घर परिवार में न बोलने का या कम बोलने की शिक्षा मिलती है। घर के बाहर तो वह कोई बलता है तो वह चूपचाप सुनने के लिए तयार रहना और गुस्सा भी आए तो चूपचाप पी जाओं, ऐसा नही करेगी तो समजा उसे कुलटा और न जाने कितनी उपाधियां देगा यह सोचकर वह खुद को नाकाम समझकर चूप बैठने के अलावा कुछ नहीं करती है। ऐसे में अगर कोई दलित कवयित्री अपनी बेडियां तोडने रचनाओं का निर्माण करती है तो यह साहित्य के लिए बहुत बडी उपलब्धि है।

कोई दलित लडकी समाज की बुराईयों को सामने लाना चाहती है, यह अच्छी बात है। आज के समय में दलित लेखकों के साथ-साथ दलित कवयित्रियां भी साहित्य में अपने जीवन को अभिव्यक्त कर रही है। हिंदी की दलित कवयित्रियां अपने लेखनी में ऐसे विषयों को लेकर आने लगी है जिस पर ब्राह्मणवादी मानसिकता लडखडा रही है।

कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा, आलोचनात्मक लेख आदि विधाओं में दलित स्त्री साहित्य लिखा जा रहा है। और उसकी सराहना भी बहुत होने लगी है। स्त्री आंदोलन के शुरुआती दिनों में महिलाओं के अनुभव की अभिव्यक्ति करने केवल एक ही मंच उपस्थित था लेकिन दलित लेखिकाओं ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि विभिन्न वर्ग की महिलाएं अनेक अपने मुद्दों पर अलग-अलग ढंग से प्रभावित रही है। और उसे महसूस हुआ कि अपनी अभिव्यक्ति का अलग से रास्ता निकाला जा सकता है। ठिक वैसे दलित नारी संगठित होकर उनके साथ हो रहे दाहरे शोषण को विविध विधाओं द्वारा साहित्य में

प्रस्तुत करने लगी है। "दलित स्त्री साहित्यिक आंदोलन में दलित स्त्री अब सभी विधाओं में अपनी बाते कह रही है। वह है, आत्मकथा, कविता, नाटक, एकांकी, यात्रा वृतांत एवं लोकगीतों के माध्यम से आत्मकथा के माध्यम से दलित स्त्री घर के अंदर पितृसत्ता को रेखांकित कर रही है। जिसके निसाने पर आमतौर पर पति का व्यवहार घर के अंदर के अन्य लोगों का व्यवहार निसाने पर आता है। इस संदर्भ में पुस्तक का तिसरा खंड दलित स्त्री लेखन जिसमें केवल अनिता भारती ने अपने आलेख 'दलित लेखन में स्त्री चेतना की दस्तक' में संपूर्ण दलित स्त्री लेखन पर चर्चा की है।"[xiii] विवाह के बाद भी पढाई के साथ-साथ साहित्य से समाज को सही दिशा देती रहीं। रमणिका गुप्ता हर विधा में कई सारे विषयों को उजागर करती हैं। वह एक साहित्यकार के साथ-साथ सफल पत्रकार भी हैं। 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका की संपादिका हैं। उन्होंने साहित्य के माध्यम से न केवल भारत में चर्चित हैं बल्कि विदेशों में भी अपनी अलग छाप छोडी हैं। मानवतावाद रमणिका गुप्ता के साहित्य का केंद्र बिंदू है। इसी को आधार बनाकर विविध विधाओं में अपनी वैचारिक दृष्टि समाज में रुजाने के लिए तत्पर रहती हैं। कविता, कहनी, उपन्यास, नाटक, आलोचनात्मक लेख और आत्मकथा विधाओं पर हिंदी में लेखनी चलाई हैं और साथ ही बहुआयामी व्यक्तित्व होने के कारण उन्हें बहुभाषा का ज्ञान होने से उन्होंने हिंदी साहित्य तेलगु, गुजराती, पंजाबी, मराठी, मलयालम आदि भाषाओं में अनुवादित कर अनेक संस्कृतियों को मिलाने व समझाने का कार्य किया हैं।

दलित स्त्री लेखन पर शोध तथा शैक्षणिक हलचल

आज दलित स्त्री लेखन विविध प्रकार की साहित्य की विधाओं को स्थान देकर व्यापक रूप धारण किया हुआ है। विविध विश्वविद्यालयों में दलित स्त्री लेखन को पाठ्यक्रम में पढाया जा रहा है। और साथ ही दलित स्त्री लेखन पर केवल चर्चा न होकर विविध विषय के शोध कार्य हो रहे है। यह दलित स्त्री लेखन की बडी उपलब्धि मानी जायगी अब दलित मुद्दों पर एवं दलित स्त्रियों के मुद्दों पर लेखन और बोध में वृद्धि होती दिखती है। जिस आक्रोश के तेजाब से स्त्री आस्मिता को रौंदा जाता रहा है, उस आक्रोश का प्रतिउत्तर देना दलित स्त्रियां सीख लिया है। वे आज आत्मनिर्भर हो रहीं है तथा आत्मबल से लबालब हैं। वह साक्षर होना जान गई है इसलिए खुद की आत्मरक्षा करने में समर्थ बनी है, आज दलित स्त्री अपनी खुदारी को पहचाना है, अब वह बेबस, बेचारी, लाचार, अबला नहीं हैं बल्कि किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तयार है। यह हिंमत उन्हें डॉ. अम्बेडकर के कार्य से प्राप्त हुई है। संविधान ने सभी स्त्रियों को समानता का अधिकार देकर उनके जीवन में क्रांति का बीज बोया है। परिणाम स्वरुप आज दलित स्त्री भी अपनी लेखनी में स्त्री समाज के उपर हो रहे अन्याय- अत्याचार को वाणी दे रही है। पुष्पा विवेक ने बहुत अच्छी बात की है, "धर्मवीर जी, जब चीटी पर पैर पडता है तो वह भी काटती है। यहां तो दलित-शुद्र स्त्री का सवाल है जो एक इंसान है, फिर चाहे वह कायस्त हो, चमार हो या कोई भी जाति की स्त्री। जब उनके साथ अन्याय होगा तो वह भी पलटवार तो करेंगे ही, अब चाहे ब्राह्मण विरोधी कायस्थ हो या धर्मवीर विरोधी स्त्री। जब उनके साथ अभद्र व्यवहार, अश्लील भाषा का प्रयोग किया जायेगा तो क्या वह चूपचाप बर्दास्त कर लें। आज की स्त्री पढी-लिकी व समझदार है, उसे अपने अधिकारों व अच्छे बूरे का ज्ञान है। निर्लज्ज और समाज विरोधी व्यक्ति का विरोध कर आज की स्त्री ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह धर्मवीर जैसे ओछी प्रवृत्ति के व्यक्ति को सबक सिखाने का हौसला रखती है।"[xiv]

दलित स्त्री लेखन का विस्तार आज की तारीख में पुरे देश में विश्वविद्यालय और महाविद्यलय में होते हुए नजर आ रहा है। विश्वविद्यलय में अनेकों दलित कवयित्रियों के रचनाओं पर शोध कार्य चल रहा है। यह उनके किए कार्य का ही फल कहना चाहिए।

सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, कौशल्या बैसंत्री, रजतरानी मीनू, अनिता भारती आदि कवयित्रियों के रचनाओं को लेकर विविध विषयों को सामने रखकर शोधकार्य हो रहे है।

दलित लेखिकाओं ने स्त्री हिंसा के खिलाफ अपना विरोध प्रकट किया है। दलित हिंसा के खिलाफ आवाज बुलंद करते समय अनोकों स्त्रियों को हिंसा व बलात्कार का शिकार होना पडा।

डॉ. अम्बेडकर ने स्त्री जीवन को सशक्त बनाने के लिए स्त्री-पुरुष की समानता अधिक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक मानते थे। लडकों के साथ-साथ बिना भेदभाव किए लडकियों को भी समान रुप से शिक्षा दी जाए तो भारतीय समाज विश्वजगत में अतिशीघृ प्रगति कर सकेगा। डॉ. अम्बेडकर इस तरह इसलिए चाहते थे कि, स्त्री और दलित स्त्री को कई हजारों सालों से केवल शिक्षा में ही नही बल्कि सभी क्षेत्रों से दूर रखा गया और पुरुषसत्ता के वर्चस्व के अधिन रखकर उन्हें गुलाम, दास, बनाया गया। इसका जिम्मेदार डॉ.अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म ग्रंथों और मनु को माना है कारण मनु ने स्त्रियों को वेद पढने नही दिया, "स्त्रियों को पढने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिए उनके संस्कार वेद मंत्रों के बिना किए जाते है। स्त्रियों को वेद जानने को अधिकार नहीं है इसलिए उन्हें धर्म का कोई ज्ञान नही होता।"[xv] मनु के समय के पूर्व स्त्रियों को गुरुकुलों में शिक्षा दी जाती थी, इसका उलेख डॉ.अम्बेडकर करते है, "श्रोत सूत्र से यह स्पष्ट है कि नारी वेद मंत्रों का अनुपाठ कर सकती थी और उसे वेदों का अध्ययन करने के लिए शिक्षा दी जाती थी पाणिनि की अष्टाध्यायी से इस बात के भी प्रमाण मिलते है कि, नारियाँ गुरुकुलों में जाती और वेदों की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करती थी। और वे मीमांसा में प्रविण होती थी। पतंजली के महाभाष्य का कहना है कि, नारियां शिक्षक होती थीं और बालिकाओं को वेदों का अध्ययन कराती थी।"[xvi]

बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर शिक्षा को अन्याय के खिलाफ लडने का शास्त्र माना है। 'शिक्षा शेरनी का दूध है, यह दूध जो भी कोई पिएगा वह अन्याय के खिलाफ जंग छेडे बीना नही रहेगा', 'जब तक गुलामों को उसकी गुलामी का ज्ञान नही होगा तब तक वह गुलामी से मुक्त नही होगा।' बिना शिक्षा से कोई भी व्यक्ति गुलामी को पहचान नहीं सकता। गुलामों को गुलामी की पहचान तब हो सकती है, जब वह शिक्षा आत्मसात करके सही गलत की पहचान करने में परिपूर्ण साबित हो, "डॉ.अम्बेडकर जब विदेश में पढने गए तो वहां के स्वतंत्र जीवन में उन्होंने स्त्रियों को चहुंमुखी विकास करते देखा तो उन्हें समझ में आया कि, बिना स्त्री शिक्षा के कोई भी प्रगति अधूरी है। विदेश में होते हुए वहां की स्त्रियों को स्वतंत्रतापूर्वक जीवन जीते हुए, चिंतन मनन करते हुए, उनकी प्रगति देख स्त्री चेतना को धार मिली।"[xvii] डॉ.अम्बेडकर का अपना मानना था कि, "यह गलत है कि माँ-बाप बच्चों के जीवन को उचित मोड दे सकते है, यह बात अपने मन पर अंकित कर यदि हम लोग अपने लडकों की शिक्षा के साथ ही लडकियों की शिक्षा के लिए भी प्रयास करे तो हमारे समाज की उन्नति तीवृ होगी। इसलिए आपको नजदीकी रिस्तेदारों में यह विचार तेजी से फैलाना चहिए।"[xviii] शिक्षा मनुष्य की आँखों के समान होती है, जिस प्रकार आँखों के बिना हम कुछ देख और समझ नही सकते उसी प्रकार शिक्षा के बिना भी समाज को सही ढंग से समझ नही सकते। इसलिए जीवन में शिक्षा का होना महत्वपूर्ण ही नही बल्कि अनिवार्य है।

शिक्षा से ही विवेक-बुद्धि प्राप्त होती हैं जिसके द्वारा हम अपनी स्थिति और सही-गलत का भेद करके सत्य को आधार बनाकर सच्चा इतिहास लिखेंगें। कहा जाता है कि जिनकों अपने इतिहास के बारे में कुछ जानकारी नहीं वह अपना इतिहास लिख नही सकते। आज तक वही होते आ रहा था लेकिन आज दलित, आदिवासी और स्त्रियों ने शिक्षा के बल पर अपना

इतिहास जानकर स्वयं इतिहास लिखने का काम ही बल्कि इतिहास में अपनी खास जगह बना रही है। अतः स्पष्ट है कि, इतिहास जानने के लिए शिक्षा बहुत जरुरी है। शिक्षा प्राप्ति के उपरांत हम अपना इतिहास और वर्तमान को अच्छे से समझकर भविष्य में उन्नति-प्रगति पर राह का इतिहास खुद बना सकते है। सुशीला टाकभौरे लिखती है, "सर्वप्रथम महात्मा ज्योतिबा फुले स्त्री शिक्षा का अभियान चलाया था क्रांति माँ सावित्री फुले ने प्रथम शिक्षिका बनकर, स्त्री शिक्षण अभियान को आगे बढाया। बाबासाहेब डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने स्त्रियों के हक में कानून बनाकर स्त्रियों को अधिकार दिलाए, जिसके फलस्वरुप वे शिक्षा और प्रगति के क्षेत्र में आगे बढ सकी।"[xix]

दलित स्त्री की बदलती परिस्थिति

दलित स्त्री की परिस्थिति पहले से बेहतर हो रही है। आज वह अपने हक एवं अधिकार के लिए समाज से लड रही है। अब दलित स्त्री के आंदोलन, मुद्दों पर भी , सोचने का तरिक बदला है। भले ही दलित स्त्री को समानता का अधिकार न मिला हो लेकिन उसे समाज ने यह कबूल कर लिया है कि दलित स्त्री भी एक मनुष्य है और उसे मनुष्य होने का अधिकार मिलना चाहिए। वैसे स्त्री बहुत ही सहनशील होती है समाज ने उसे इस सहनशीलता का फायदा उठाकर कमजोर बनाया। परन्तु पुरुष के यह पत्ता नहीं था कि सहनशील होने के लिए हौसला रखना चाहिए। स्त्री के पास इतना सहन करने की शक्ति होती है कि सब कुछ छोडकर अपने परिवार के लिए जी जान लगा देती है। लेकिन आज स्त्री के पास यह उपलब्धि हैं, कि वह "आज औरत अपने सीमित दायरे से बाहर निकलकर प्रगति पथ पर अवश्य आगे बढ रही है, परन्तु समानता ने अभी भी कोसों दूर है।"[xx] सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्र में दलित स्त्री की स्थिति में जितनी विकाश की गती होनी थी वह नहीं हो पायी। फिर भा कह सकते है कि दलित स्त्री आज सभी क्षेत्र में अपना दबदबा निर्माण करना चाहती है।

दलित साहित्य को राजनीति से जोडकर देखना आवश्यक कारण दलित साहित्य केवल साहित्य ही नहीं बल्कि विचारों का एक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आंदोलन भी हैं। एक ऐसा आंदोनल जिसके द्वारा दलित, आदिवासी, स्त्री तथा दबे-कुचले लोग भी अपनी लडाई खुद लडने के लिए तयार हैं। हक एवं अधिकार की बात करते ही साहित्य अपने आप राजनीति से जुड जाता है। पर सवाल हि कि क्या दलित साहित्य का राजनीति से कोई संबंद है या नहीं। कारण हम दलित साहित्य को आंदोलन का रुप मानते है तो फिर कोई भी आंदोलन राजनीतिक विचारों के बिना आगे नहीं बढ सकता हैं। अनिता भारती ठिक ही लिखती है, "दलित आंदोलन और दलित साहित्य की भी एक राजनीतिक विचारधारा है जिसके प्रेरणास्रोत अम्बेडकर, फुले, कबीर, बुद्ध हैं।"[xxi] दलित साहित्य और आंदोलन के प्रेरणास्रोत डॉ.अम्बेडकर के नेत्रत्व में दलित समाज तथा स्त्री समाज जिस चेतना से लाखों करोडों की संख्या में जुड रहा है। वैसा किसी भी इतिहास में नहीं संभव नहीं है। डॉ. अम्बेडकर ने केवल दलित समाज को ही सुधारने का या उनको आगे लाने का कार्य नहीं किया बल्कि उनके दृष्टि में समाज की सभी महिलाओं को न्याय दिलाना ही मकसद रहा है। तथकालीन समाज में चले स्त्रियों के छोटे-बडे आंदोलनों की आखिर यही राजनीति रही होगी कि, दलित आंदोलन से जुडकर शोषण और दमन के खिलाफ एक ऐसे स्वस्थ समाज के लिए संघर्ष करना जहां समाज में दलित पुरुषों के साथ खंदे से खंदा मिलाकर कार्यरत रहे और वह भी समानता, स्वतंत्रता का हिसा बने। "1977 में कुल 19 महिलाएं ही संसद में पहुंचीं जबकि 1984 में सबसे अधिक 46 महिलाएं संसद में पहुंचीं। यह इंदिरा गांधी हत्याकांड का वर्ष था, जब राजीव गांधी सहानूभूति की तेज लहर चली थी उसके बाद संसद में महिलाओं की संख्या घटती चली गई। 1999 में फिर इसमें थोडा सुधार आया और संसद में पहुंचने वाली महिलाओं

का संख्या 48 हो गयी।"[xxii] इतना ही नहीं बल्कि भारत का सबसे बडा राज्य उत्तरप्रदेश की पहली बार एक दलित महिला मुख्यमंत्री बनी है। और दलित महिलाओं में दूसरी मुख्यमंत्री रही राबडी देवी जो कि लालू प्रसाद यादव के जेल जाने के बाद बनी। बात अलग है कि उनका मुख्यमंत्री बनना मजबूरी थी लेकिन राबडी देवा भी हमेशा लालू प्रसाद को सहयोग की भूमिका में ही दिखाई देती रही है। इसके अलावा अनेक दलित महिलाओं ने राजनीति में भागीदारी दर्ज की उसमें मध्यप्रदेश की जमुना देवी उपमुख्यमंत्री पद पर रही और बिहार में मुसहर जाति की महिला भगवती देवी राज्यमंत्री भी बनी साथ ही केंद्र में सांसद भी रही।

जहां मायावती ने दलित महिलाओं का स्वाभिमान जगाया, वही एक बिल्कुल ग्रामिण महिला ने व्यवस्था से विद्रोह कर अपने अपमान का बदला लिया। जहां लाखों ठाकूरों और ब्राह्मणों की नजर में फूलन देवी एक डकैत थी, जिसने बेहमई में ठाकूरों को मौत के घाट उतारा, लेकिन ये ही लोग फूलन पर अत्याचार-दुष्कर्म को भूल जाते हैं। परन्तु हम यह कभी नहीं भूल सकते कि फुलन दलित महिलाओं की चेतना थी, उनके विद्रोह की कहानी थी। 12 साल जेल में रहकर बाहर आने के बाद राजनीतिक हलचलें शुरु हुई है। फुलन पर उनकी मल्लाह जाति को बहुत गर्व था, अन्त में उन्होंने एक राजनैतिक दल की सदस्य बनकर मिर्जापुर से सांसद वनी।

आज संविधान के तहत आरक्षण की बदौलत बडी संख्या में दलित महिलाएं पंचायत और क्षेत्र पंचायतों की प्रमुख सदस्य हैं। और हिम्मत और खुशी से अपना काम कर रही है। लेकिन बहुत सारी महिलाएं अपने पति के निर्देशों पर ही काम करती हैं जो कि संविधान की मुल भावना के खिलाफ है। दलित महिलाओं को अपने हक एवं अधिकारों की लडाई राजनैतिक ताकत को बढाकर ही लडनी होगी और यह सही मायनों में तभी संभव होगा सकता है जब सांप्रदायिकता, हिंसा और धार्मिकता से स्वयं को दूर रखेंगे। यही सबसे अधिक दलित महिलाओं के शोषण के हतियार बनकर आये हैं। इसलिए दलित महिलाओं को अपने संवैधानिक अधिकारों के प्रति सचेत रहकर ही राजनीति में अपना कदम रखना अनिवार्य तथा महत्वपूर्ण रहेगा।

कहना होगा कि दलित स्त्री हर क्षेत्र में आगे आने की कोशिश में जूटी हुई है। दलित महिलाएं विभिन्न प्रांतो में सजग तो हो रही है परन्तु आज भी हिंसा, गरीबी, छुआछूत, शिक्षा की कमी, स्वास्थ्य की कमी जैसी समस्याओं के चलते जीने को मजबूर है। इसके चलते हम कह सकते हैं कि दलित महिलाओं के स्थितियों में बहुत कुछ अन्तर नहीं आया है। शिवकुमार के अनुसार "अभी भी दलित महिलाओं को अपने ही दलित आंदोलन में पूरी पहचान नहीं मिल पायी है। हांलाकि वे इस दिशा में प्रयासरत हैं।"[xxiii] और इस संदर्भ में सुशीला टाकभौरे और अन्य दलित कवयित्रियां चिंतीत है। दलित आंदोलन व लेखन के सामने यह बहुत बडा प्रश्न है कि समाज में महिलाओं के प्रति ब्राह्मणवादी मानसिकता को किस प्रकार बदला जाय कारण इस मानसिकता के कारण संपूर्ण दलित महिला वर्ग नारी मुक्ति आंदोलन से जुड नहीं पाती है। इसका बडा कारण पितृसत्ता का वर्चस्व कहा जा सकता है। इसलिए आज भी वे घर हो या घर के बाहर का कोई भी कार्य हो परिवार के पुरुष की अनुमति के बिना कर नही सकती। अत: संभावना कर सकते है कि स्त्री के प्रति इस तरह की मानसिकता को जब तक बदला न जाय तब तक नारी मुक्ति के प्रश्नों का समाधान नही कर पायेंगे।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि, दलित स्त्री राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों से पिछडी हुई हैं। धीरे-धीरे वह पिछडी जिंदगी को पिछे छोडकर विकास का रास्ता अपना रही है। हिंदी दलित स्त्री लेखन में अनेक संभावनाएं हैं। कही गयी बात को पुन: पुन: उसी

अंदाज में कहना रीपीटेशन अधिक होता है। इसलिए आगे भविष्य में इस प्रकार एक ही बात को अलग प्रकार से चित्रित करने की कोशिश होनी चाहिए। विषयों में भी विभिन्नता होनी आवश्यक हैं। दलित स्त्री के अनेक मुद्दे अभी भी साहित्य में चित्रित करना बाकी रहा है। उम्मीद हैं कि दलित स्त्री आगे इसकी कमी दुर करेगी।

-तुपसाखरे श्यामराव पुंडलिक
शोधार्थी- हिंदी विभाग, मानविकिय संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय हैदराबाद,500046
गच्चीबाउली हैदराबाद,
मो. न. 7382460576

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में स्त्री-विमर्श

डॉ. कान्ता ढ़िल्लन

उपन्यास आज की सबसे लोकप्रिय विधा है। 'उपन्यास' 'उप' और 'न्यास' शब्दों के योग से बना है। 'उप' का अर्थ है, निकट 'न्यास' का अर्थ है रखा हुआ। जीवन की संष्लिष्टताओं और जटिलताओं का जितना सफल चित्रण उपन्यास के द्वारा संभव है, अन्य किसी विद्या के द्वारा नहीं, उपन्यास अपनी रंजकता और प्रभावात्मकता के कारण पाठकों को अत्यंत सहजता से यथार्थ का बोध कराता है। स्त्री और पुरूष समाज की दो महत्त्वपूर्ण इकाई हैं। बस फर्क इतना है कि एक ज्यादा शोषित है और एक ज्यादा स्वतंत्र। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से पुरूष का स्वरूप उतना नहीं बदला है जितना स्त्री का। आज की स्त्री समाज की चुनौतियों को स्वीकारते हुए आगे बढ़ रही है। आज की स्त्री यह अनुभव कर रही है कि वह किसी भी क्षेत्र में पुरूष से कम नहीं है। आज स्त्री समाज में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में अपने को स्थापित करना चाहती है। स्त्री-पुरूष समानता पर पुरूष-प्रधान समाज का विचार प्रायः नकारात्मक है और वह स्त्री को अपमानित करने का एक मौका भी नहीं छोड़ता। समय के साथ रूढ़ नियमों एवं अवधारणाओं में संशोधन की जरूरत है। स्त्री इंसान है, यह सोच हमारे समाज में नहीं है। स्त्री शोषण पर ही हमारी सामाजिक व्यवस्था रखी है। नारी स्वरूप में बदलाव के लिए नारी सशक्तिकरण की आवश्यकता है। उसे जागरूक करने की जरूरत है।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति, दशा एवं भूमिका का प्रश्न बेहद ज्वलंत मुद्दा है। नारी भारतीय समाज की आधी जनसंख्या है। वह समाज की आधी शक्ति है। पुरूष वर्ग का नारी वर्ग के प्रति संकुचित धारणाओं की वजह से वह स्वावलंबन की ओर कदम बढ़ाने का साहस नहीं जुटा पा रही है। जरूरत आज इस बात की है कि स्त्री भी समाज में अपनी सही पहचान, उचित जगह एवं अस्मिता को बनाए रखे ताकि वह कमजोर न रहे।

स्त्री-विमर्श

नारीवाद ही स्त्री विमर्श है, नारी की यथार्थ स्थिति के बारे में चर्चा से मुक्ति चाहता है। ताकि वह स्वतंत्र ढंग से जी सके और सोच सके। वह पूर्ण स्वाधीन हो। समाज की निर्णायक शक्ति हो। कात्यायनी के अनुसार- **''नकारात्मक भेदभाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। वस्तुतः इस रूप में देखा जाए तो स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है।''**[1] स्त्री विमर्श के युग में स्त्री की स्थिति में आये सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह पुरूष के समान ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत है। लेकिन इसके लिए उसे भीतर-बाहर से बहुत टूटना पड़ता है। विवाह से पहले नौकरी करती स्त्री को अपने परिवारजनों के लिए तड़पना पड़ता है तो विवाह के बाद पति के परिवार वालों के लिए उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं का कोई ध्यान नहीं रखता। सबको संतुष्ट करना ही उसकी नियति है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा का वक्तव्य यह है कि - **''पुरूष के लिए सबसे बड़ी चुनौती स्त्री ही है, उसको वश में करने के लिए वह जिन्दगी भर न जाने कितने प्रयास करता है कि किसी तरह औरत के वजूद को तोड़ सके।''**[2]

पुरूषों की निगाहों में स्त्रियाँ उपेक्षिता ही रहती हैं। पुरूषों ने उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए कभी कोई सुविधा नहीं दी है। जब स्त्रियाँ मानवीय अस्मिता के लिए प्रतिवाद करती हैं तो उनकी स्वतंत्रता को नकारात्मक अर्थों में ही ग्रहण किया जाता है। भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति, दशा एवं भूमिका का प्रश्न बेहद ज्वलंत मुद्दा है। पुरूष वर्ग का नारी वर्ग के प्रति संकुचित धारणाओं की वजह से वह स्वालंबन की ओर कदम बढ़ाने का साहस नहीं जुटा पा रही हैं।

नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में स्त्री-विमर्श

नरेन्द्र कोहली आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक सशक्त साहित्यकार है। नरेन्द्र कोहली ने हिन्दी उपन्यास को एक नई जमीन पर लाकर खड़ा कर दिया है। नरेन्द्र कोहली के अपने उपन्यासों में स्त्री की समस्या एक ध्यानाकर्षक विषय रही है। आधुनिक युग में समाज सुधारकों का ही नहीं साहित्यकारों का ध्यान भी स्त्री से सम्बन्ध विभिन्न समस्याओ की ओर विशिष्ट रूप से आकृष्ट हुआ है। युग-युग से पीड़ित व प्रताड़ित स्त्री जीवन के विभिन्न पहलूओं का चित्रण नरेन्द्र कोहली जी ने संवेदनाशीलता के साथ किया है। नरेन्द्र कोहली ने अपने उपन्यासों में स्त्री की विभिन्न समस्याओं को उजागर किया है। प्राचीन काल से ही स्त्री को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया है। कौमार्यवस्था में पिता के यौवनावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में नारी को रहना पड़ा है। नरेन्द्र कोहली ने अपने उपन्यासों में प्राचीन समय में स्त्री की जो स्थिति थी उसका सजीव, प्रामाणिक एवं कलात्मक चित्रण किया है।

आधुनिक नारी बाहरी तौर पर काफी आगे पहुँची है लेकिन जितना पहुँचना चाहिए था वहाँ तक नहीं पहुँची है। **''हमारे भारतीय समाज में दुर्गा, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती देवी के रूपों में औरतों की पूजा की जाती है, परंतु व्यावहारिक धरातल पर उसे मानवीय भी नहीं समझा जाता। वह पाषाण की मूर्ति की भाँति सब कुछ सहे, यही भारतीय समाज चाहता है।''**[3] पुरूषों की निगाहों में स्त्रियाँ उपेक्षिता ही रही हैं। नरेन्द्र कोहली के उपन्यास 'बंधन' में अम्बा शाल्वराज के यहाँ पहुँची तो शाल्वराज ने यह कहकर उसे अपने अन्तःपुर में लेने से इनकार कर दिया - सुन्दरी! तुम पहले किसी दूसरे की हो चुकी हो, अतः अब मैं, तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता। अम्बा ने अपहरण की घटना के लिए अपने-आपको निरपराध बताते हुए कहा मैं एक धर्मपरायण महिला हूँ। आपका वरण करने के बाद मैं किसी भी अन्य पुरूष के साथ विवाह का रिश्ता नहीं जी सकती, लेकिन शाल्वराज अम्बा को अपनाने के लिए राजी नहीं हुए। भीष्म भी न मिल सका तो अम्बा भयंकर प्रतिज्ञा करती है - **''मैं अपना जीवन तपस्या में दग्ध कर दूँगी, ताकि तुम्हारा जीवन जो मेरा नहीं हो सका, नष्ट हो सके।''**[4] वास्तविकता यह है कि आज तक अधिकारों पर कब्जा पुरूषों का ही था, आज भी है। वह तब तक रहेगा जब तक स्त्रियाँ अपने अधिकारों के लिए जागरूक नहीं हो जाती। जब स्त्रियाँ इस प्रकार के प्रश्नों के प्रति तर्कशील होकर विचार करेंगी तभी उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में परिवर्तन संभव हो सकेगा।

'महासमर' के कुंती-कर्ण प्रसंग को लेकर स्वांतत्र्योत्तर कालीन उपन्यासकार नरेन्द्र कोहली ने कुंती को तत्कालीन सामाजिक परिवेश के साथ मानसिक द्वन्द्व के आलोक को चित्रित किया है। नरेन्द्र कोहली ने कुन्ती की अन्तर्व्यथा का अंकन सुन्दर ढंग से किया है। कुंती एक अभागिन नारी है। कुंती का सम्पूर्ण चरित्र एक भीषण अंतर्द्वन्द्व की मर्मान्तिक कथा है। कुंती एक विह्वल नारी के रूप में दिखाई पड़ती है। अपनी युवा जीवन की भूल के लिए वह सतत् पश्चाताप् क्षोभ और विकलन की अग्नि में झुलसती है। कर्ण भेंट के समय वह अपना अपराध स्वीकार करती हुई, नारी जीवन की विवशता और पराधीनता को कर्ण के समक्ष व्यक्त करती है – **''बेटा धरती पर बड़ी दीन है नारी, अबला होती, सचमुच शोषिता कुमारी, है कठिन बंद करना समाज के मुख को सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।''**[5]

इन पंक्तियों में कुंती ने भारतीय स्त्री की दीनता, हीनता और पराधीनता का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। आज हमारे समाज में कुँवारी माताओं की नियति यही है कि वे जीवन-भर चीख-पुकार से जीवन व्यतीत करती हैं। कुंती में कर्त्तव्य चेतना जागी है इसलिए वह जड़ समाज को चुनौती देती है। कुंती नारी के अधिकारों के लिए लड़ी है। इसलिए जड़ समाज के विरूद्ध बगावत कर उठती है। कुंती समाज मर्यादा के कारण कर्ण को न अपना सकी। कोहली जी कुंती के

माध्यम से आधुनिक नारी जीवन की ट्रेजडी को उजागर किया है। कुंती की दृष्टि में नारियाँ अबला होने के कारण अभिशप्त जीवन जीती हैं।

स्वांतत्र्योत्तर कालीन लेखकों ने परम्परा को ठुकराकर महाभारतीय कुंती के आदर्श चरित्र को कलंकित करने का प्रयत्न किया है। कुंती का एकमेव कसूर यही था कि उन्होंने अपने कानीन पुत्र को जन्म देकर कुँवारेपन की लाज रखने के लिए उसका परित्याग किया। समाज का भय एवं किशोर आयु की नासमझी के कारण उन्हें ये अपराध करना पड़ा। कुंती कर्ण के सामने अनुनय करते हुए क्षमा याचना करती है, परन्तु कर्ण कुन्ती को स्वार्थी, ठगिनी कहकर धिक्कारता है। कोहली जी ने कुन्ती के माध्यम से आधुनिक कुन्ती की पीड़ा और ग्लानि भाव को व्यक्त किया है। भीष्म पाण्डु के लिए मद्रराज शल्य की बहन माद्री को शुल्क देकर खरीदता है। यहाँ लेखक ने महाभारतकालीन समाज की तुलना आधुनिक समाज से की है। समाज में प्रचलित नारी विक्रय का उल्लेख किया है। जिसमें नारी की स्थिति मूक-पशु सी दयनीय थी और नारी के क्रय-विक्रय की प्रथा आज भी जीवित है, जो हमारे समाज के लिए एक कलंक है। द्रौपदी पांचाल-नरेश की सशक्त पुत्री तथा उस समय के प्रमुख हस्तिनापुर राज्य की बहू थी। इसके बावजूद, उसका जीवन काँटों से भरा था। वनवास की मुसीबतें उठाने के अतिरिक्त उसे दो बार अपहरण की परिस्थिति से जूझना पड़ा था और उसे भरी सभा में निर्वस्त्र करने का प्रयास किया गया था। भारत के उच्चतम न्यायालय के प्रमुख न्यायधीश रह चुके ए.एस. आनन्द के अनुसार बलात्कार अभागी नारी की आत्मा का हनन कर देता है। इसलिए यदि द्रौपदी प्रतिशोध की आग में जल रही थी और कौरवों को उनके घोर अपराध के लिए दण्डित करना चाहती थी तो ऐसा होना स्वाभाविक था।

नरेन्द्र कोहली ने द्रौपदी के माध्यम से आधुनिक युग की उत्पीड़न स्त्री का वर्णन किया है। स्त्री की पीड़ा शाश्वत है। नारी की व्यथा अनन्त है। आज भी कितनी ही निर्दोष कन्याएँ उत्पीड़न सह रही हैं अथवा न सह पाने की स्थिति में आत्मघात कर रही हैं। अन्याय के प्रतिकार हेतु सहस्रों जिव्हाओं वाली अक्षत् ज्वाला सी वह अन्त तक लपलपाती रही। आज भी बहुत सी द्रौपदी न्याय मांगने के लिए कानून से लड़ती रही है। अन्त तक लेकिन फिर भी उन्हें न्याय नहीं मिलता। नरेन्द्र कोहली ने स्त्री-विमर्श पर विचार करते हुए अपनी कथा की अम्बिका और अम्बालिका को प्रस्तुत किया है। 'महासमर' की कथा में अम्बिका और अम्बालिका का चरित्र केवल कुरूवंश के लिए संतान उत्पन्न करने के लिए ही सामने आता है। ऐसा लगता है कि केवल पुत्र प्राप्ति के लिए उनकी कोख का प्रयोग किया गया है। बस वे तो बंधिको, दासों की तरह रही, दूसरों की इच्छा पूरी करती रही। आधुनिक युग में भी नारी की स्थिति यही है। पुत्र प्राप्ति के लिए उनसे अनेक पाप करवाये जाते हैं। उन पर अनेक अत्याचार किए जाते हैं। अम्बिका नारी की पीड़ा को व्यक्त करते हुई कहती है कि - **''अम्बालिके! मैं ठीक कह रही हूँ। हम राजमाता के लिए किसी उपयोग की वस्तु हैं तो हमें सहेजकर रखेंगी और यदि हमारा कोई उपयोग नहीं है तो फिर कदाचित् हमें सती होने का आदेश मिल जायेगा।''**[6] आज भी नारी को संतान उत्पन्न करने की मशीन समझा जाता है। अगर इस कार्य में सक्षम नहीं है तो तलाक तक भी हो जाता है।

नरेन्द्र कोहली ने तद्युगीन रानियों की विवशता एवं दयनीयता का जीवन्त चित्र अंकित किया है। आधुनिक युग में भी स्त्री का अपहरण कर होटलों में यौन सुख तृप्ति के दलालों को बेच दिया जाता है, स्थिति जितनी विकराल है उतनी भयंकर भी है। तद्युगीन समाज में नारी का अपहरण साधारण सी बात थी। नरेंन्द्र कोहली ने इस अनाचार से पीड़ित माता की व्यथा को वाणी दी है - **''अब मेरी फूल सी बच्ची उस मुच्छड़ के साथ चली गई। बताओ तो क्या होगा अब उसके जीवन का, जाने वह मुच्छड़ है कौन? संभव है**

विवाहित हो, बाल-बच्चों वाला हो। ..... हमारी भोली-भाली बच्ची को बहकाकर ले गया .....।''[7]

इस प्रकार पुरूष समाज द्वारा स्त्री का शोषण और अत्याचार एक आम बात थी। आधुनिक समाज में भी नारी पर ऐसे ही अत्याचार किए जा रहे हैं। स्त्री के बलात्कार केस रोज हमारे सामने आ रहे हैं। अपहरण की घटनाएँ आए दिन बढ़ती जा रही हैं। लड़कियों का अपहरण किया जाता है और बलात्कार कर उनको बेच दिया जाता है।

स्त्री विमर्श हिन्दी उपन्यास का प्राणत्व माना गया। इस काल में कई लेखकों ने इस क्षेत्र में अपनी लेखनी चलाई। इन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसे स्त्री पात्रों को प्रमुखता दी है जो अपनी स्वतंत्र सोच रखती है। इनका लेखन आक्रमक, तीखा और पितृसत्तात्मक समाज की कड़ी आलोचना से परिपूर्ण है। स्त्री अस्तित्व को पहचाने की प्रक्रिया है स्त्री विमर्श। भारत में स्त्रियों की स्थिति में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक अनेक उतार-चढ़ाव आए हैं। वैदिक काल में स्त्री का जीवन काफी उन्नत एवं परिष्कृत था। मध्यकाल में वह केवल चीज बन गयी। आधुनिक काल में नारी अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रही है। स्त्री विमर्श के इस युग में स्त्री पुरूष के समान ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत है। आज की नारी ने अपनी शक्ति की पहचान कर ली है। आज वह राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण हिस्सेदारी निभा रही है।''[8]

स्त्रीवादी चिंतन में अरबों, करोड़ों स्त्रियों के दमन, अन्याय और उत्पीड़न मुक्ति की गाथा निहित है। भारत में स्त्री प्रश्न 19वीं सदी के मध्य में खास तौर पर बंगाल और महाराष्ट्र के समाज-सुधारकों द्वारा उठाये गये भारतीय परंपरा में स्त्री के लिए जो परंपरागत मान्यतायें हैं, वही स्त्री की मुक्ति के रास्ते में बाधा बनती हैं। स्त्री विमर्श ने स्पष्ट किया है कि स्त्री का दमन पैतृक परिवारों की मूल्य व्यवस्था ने ही किया है। विश्व के इतिहास में नारीवादी परिप्रेक्ष्य एक क्रांतिकारी परिवर्तन है। स्त्री जागरण यूरोप में फ्रांस की क्रांति तथा अमरीकी आन्दोलन के साथ उभरा।

स्त्री विमर्श ने हमें पितृसत्तात्मक मूल्यों, दोहरे नैतिक आदर्शों एवं अतंर्विरोधों को समझने और पहचाने की अंतदृष्टियाँ प्रदान की है। उसमें स्त्रियों की व्यथा दुःख और संघर्ष की अभिव्यक्ति है। मार्क्सवादी स्त्री विमर्श ने स्त्रियों की समस्याओं को उत्पीड़ित जनों की समस्याओं से जोड़ा है। अतः नरेन्द्र कोहली के स्त्री पात्र पूर्णतया समकालीन है। जो नारीत्व और व्यक्तिगत दोनों ही मुकामों पर स्वतंत्रता की दावेदार है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज के उपन्यासों में नारियों के बहुआयामी रूपों को दर्शाया गया है। इन उपन्यासों की नारियाँ सारी वर्जनाओं को धत्ता बताकर नैतिक उपदेशों एवं आकांक्षाओं के परे ठेलकर अपने लिए स्वतंत्र राह तलाशती है और अपनी सजग मौजूदगी का अहसास कराती है।

संदर्भ

1. हंस - मार्च 2000, पृ0 95
2. मैत्रेयी पुष्पा, चर्चा हमारी, पृ0 21
3. मुदिता चंद्रा, सुलक्षणा टोप्पो, आधुनिक एवं हिन्दी कथा साहित्य में नारी का बदलता स्वरूप, पृ0 524
4. नरेन्द्र कोहली; महासमर खण्ड-9, आनुषंगिक, पृ0 215
5. महाभारत सभापर्व 39/9-77
6. नरेन्द्र कोहली, महासमर खण्ड-1, बन्धन, पृ0 226
7. नरेन्द्र कोहली, महासमर खण्ड-1, बन्धन, पृ0 60
8. आतिरा वी0, समकालीन उपन्यासों में स्त्री विमर्श, नरेन्द्र कोहली, महासमर बन्धन; पृ0 233

डॉ. कान्ता ढ़िल्लन, आरजेड-168, वाई-ब्लॉक,
न्यू रोशनपुरा, नजफगढ़,नई दिल्ली-110043
मो. 845980673

'हिंदी भाषा : अस्मिता और संभावनाएं'

– डॉ.मजीद शेख

आज 'विश्वग्राम' की अवधारणा के सम्मुख 'वसुधैव कुटुंबकम्' का प्राचीनतम् चिंतन भी उपस्थित है जिसमें समस्त संसार के लोगों के बीच निहित तात्विक एकता की बात की गई है तथा जिसकी आधारशिला आध्यात्मिकता पर अवलंबित है। दूसरी ओर 'विश्वग्राम' की अवधारणा बंधनमुक्त व्यापार और व्यावसायिक समस्या तथा प्रतिस्पर्धा की बात करती है। एक आध्यात्मिक है तो दूसरा भौतिक। भौतिकता के सहारे सिर्फ बाजार बनकर रहा जा सकता है। भौतिक चिंतन एवं अनुसंधान के लिए 'निजभाषा' ही एक मात्र विकल्प है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी में दक्षता हासिल करने के लिए भाषा विशेष की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

विश्व के हर राष्ट्र में राष्ट्रभाषा का महत्व सर्वोपरि है। वर्तमान समय में प्रत्येक प्रगतिशील, उन्नत, आजाद, स्वाभिमानी राष्ट्र की अपनी राष्ट्रभाषा है। इंग्लैंड़, अमेरिका, जापान, चीन, रुस, इजराइल, स्पेन आदि सभी देशों में वहां की व्यापक, बहुप्रचलित भाषा राष्ट्रभाषा के रुप में व्यवहृत होती है। आयरिश कवि टॉमस डेविश ने बिल्कुल सही कहा हैं कि, "कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रभाषा को छोडकर राष्ट्र नहीं कहला सकता। राष्ट्रभाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी ज्यादा जरुरी है क्योंकि वह विदेशी आक्रमण को रोकने में पर्वतों और नदियों से भी अधिक समर्थ है। अपितु राष्ट्रभाषा का महत्त्व सर्वोपरि है और एक स्वतंत्र राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा का होना अत्यंत महत्वपूर्ण है।" पुनर्जागरण काल में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कहा था –

"निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल।।" राष्ट्रहित में शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही होना चाहिए। हमारा मौलिक चिंतन उसी भाषा में होता है। कबीर, बहिणाबाई आदि अपढ़ थे, पर इनका साहित्य विश्व–साहित्य के कोटि में आता हैं। मनोवैज्ञानिक सच्चाई यह हैं कि मनुष्य जिस भाषा में सपनों की उड़ान करता है, उसी भाषा में मौलिक चिंतन संभव है। स्वभाषा में ही सपने देखे जाते हैं और भौतिक चिंतन की उपज आविष्कार प्रथमतः एक सपना ही होता है। प्राथमिक शिक्षा जब वह अन्य भाषा में शुरु करता है तो उसकी बहुत–सी शक्ति उस भाषा को सोचने में नष्ट हो जाती है। इसका परिणाम यह होता हैं कि उसका अधिकार न अपनी भाषा पर रहता है और न ही अन्य भाषा पर अपितु उच्च–शिक्षा का अध्ययन स्वभाषा में करने से ही राष्ट्रभाषा में लिखने की क्षमता बढ़ती है। अंग्रेजों के शासन काल में जब प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा था, तभी हमारे देश ने सर सी.वी.रमन, मेघनाद साहा, जयंत नार्लीकर आदि जैसे उच्च–स्तर के वैज्ञानिकों को जन्म दिया। अंग्रेजी इस देश में लगभग दो सौ वर्षों से अधिक शासकों की भाषा रही हैं, तब आजादी के बाद विज्ञान में इस देश को एक भी नोबेल पुरस्कार क्यों नहीं मिला ? जबकि विश्व के तीन प्रतिशत विज्ञान के स्नातक भारत में हैं। यहूदी भाषी इजराइल अपनी भाषा में शिक्षा देता हैं और अपनी भाषा में जीवन जीता है। चीन, जापान, हॉलैण्ड़ आदि समुन्नत देश अपनी भाषा में जीते हैं और वे इसीलिए स्वतंत्र, वाचाल तथा सर्जनात्मक है। हमारे जैसे मानसिक गुलाम नहीं है। अर्थात् विदेशी भाषा से हम ज्ञान तो ले सकते हैं, पर ज्ञान का सर्जन नहीं कर सकते और ज्ञान के सर्जन से ही देश संपन्न होता है। इतिहास गवाह हैं कि उसी देश में वैज्ञानिक विकास हुआ, जहां ज्ञान जन–जन की भाषा में पहुंचा। इस भाषाई–खाई के कारण एक कृषक का पुत्र कृषक–अभियंता तथा एक लुहार का पुत्र घातुकी–अभियंता नहीं बन सकता। देश के उपराष्ट्रपति वेंकैय्या नायडू जी लिखते हैं, "शिक्षा और ज्ञान का पहला संस्कार मातृभाषा में ही पडता है। ऐसे कई अध्ययन हुए हैं जो बताते हैं कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण बच्चों में आत्मविश्वास की कमी और हीनभावना देखी गई हैं। मैं वह दिन देखना चाहता हूं जब हमारी प्राथमिक शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा होगी।" मातृभाषा हमारी आंख की तरह होती है। इसलिए बिना आंख के चश्मे का कोई काम नहीं है।

15 अगस्त, 1947 ई. को देश स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता के सत्तर वर्ष पश्चात् भी हम सही मायने में आजाद नहीं हुए, मानसिक रुप से गुलाम है। प्रारुपण समिति के अध्यक्ष डॉ. बाबासाहेब आंबेड़कर जी ने लिखा हैं, "संविधान निर्माण के समय जब राजभाषा हिंदी का प्रश्न सामने आया तो सबसे अधिक बहस हुई।" संविधान के 17वें भाग में अनुच्छेद 343 से 351 तक राजभाषा हिंदी संबंधी प्रावधान है। संविधान सभा ने इन अनुच्छेदों को सर्वसम्मत से अंतिम

रुप से 14 सितंबर, 1949 ई. को स्वीकार किया। इसी कारण 14 सितंबर को 'हिंदी दिवस' के रुप में मनाया जाता है। राजभाषा का सामान्य अथ है 'राजकाज' की भाषा (जंजम स्ंदहनंहम) इसका सर्वप्रथम प्रयोग राजगोपालाचार्य जी ने किया था। हिंदी को राजभाषा घोषित करते समय वंपिबपंस स्ंदहनंहम शब्द का प्रयोग किया गया। राजभाषा हिंदी को केंद्र तथा राज्य सरकार के पत्र–व्यवहार की भाषा के रुप में स्वीकृत किया गया। प्रत्यक देश की एक या अधिक राजभाषाएं होती हैं।

हिंदी भाषा को राजभाषा के रुप में स्वीकार करने के पश्चात् हम ने 'त्रिभाषा सूत्र' का स्वीकार किया। जिसमें – अ,ब,क तीन प्रकार का दर्जा राज्यों को दिया गया। अ).हिंदी भाषी राज्य, ब).अहिंदी भाषी राज्य, क). दाक्षिणात्य राज्य आदि। हिंदी बगैर विकसित शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती। अंग्रेजी के अनुवाद द्वारा हिंदी को समृध्द बनाने की जिम्मेदारी राज्यों पर ड़ाली गई, ताकि वे ही हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए प्रयत्न करें। राज्यों ने यह जिम्मेदारी अभिजन वर्ग पर ड़ालकर अंग्रेजी के अनुवाद हिंदी मं किए। परंतु इसका परिणाम विपरीत रहा हैं। अनुवाद ठीक होना चाहिए, नकल नहीं। भाषा की नकल से युग–बोध और इतिहास–बोध भी बदलता हैं।

भारत में समता के दर्शन की रचना की भाषा हिंदी है। बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों पर गौर करें तो समता की वैचारिक अभिव्यक्ति के तोन–चार पात्र दिखाई देते हैं – स्त्री, गांव, गरीब और अछूत। इन पात्रों का पैमाना बनाएं तो हम देख सकते हैं कि पिछ़ली सदी में हिंदी ने समता के दर्शन को सामाजिक व्याप्ति देने में एक बड़ी भूमिका निभाई हैं। देश का दलित, आदिवासी समाज, पिछ़डी जातियां, मुस्लिम समाज और ग्राम्य स्त्री शक्ति हिंदी की ताकत है। मजदूर, किसान और श्रमजीवी वर्ग उसकी आंतरिक शक्ति है। झोपड़ी से इस भाषा को रोशनी मिलती रही है। सिमेंट के महलों में रहनेवालों से हिंदी दूर भागती है। हिंदी को खेतों के खुलेपन और लहलहाती फसलों के बीच रहना पसंद ह। हिंदी में निराला पैदा करने की शक्ति है। सुभाषचंद्र बोस जी ने भावनात्मक आह्वान 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा' इसी भाषा में किया था। अंग्रेजी भाषा में यह शक्ति कहां ? भावनात्मक एकता के लिए हिंदी और आर्थिक समृध्दि के लिए अंग्रेजी का बोलबाला लगभग सभी क्षेत्रों में दिखाई देता हैं। 'हिंदी हमारी धरती है, अंग्रेजी हमारा आकाश' इस दोहरी–मानसिकता से काम नहीं चलेगा। गिरीश्वर मिश्र जी ने बड़ा सटीक भाष्य किया हैं, "स्वतंत्र भारत के 70 साल पूरे हो चुके हैं पर राजभाषा हिंदी को लेकर आज भी एक संभ्रम की स्थिति बनी हुई है। वस्तुतः (अघोषित) राजभाषा अंग्रेजी ही बनी हुई है। राजकीय कार्य में हिंदी अभी–भी अनुवाद की ही भाषा है और शिक्षा तथा ज्ञान जैसे आधारभूत क्षेत्रों में उसकी पहुंच सीमित है। न्याय और स्वास्थ्य के क्षेत्रों की दृष्टि से भी हिंदी की शक्ति दुर्बल है। कुल मिलाकर वह पूर्ण राजभाषा के काबिल नहीं समझी जा सकी है और भविष्य में कब समझी जाएगी इसका कोई पता नहीं है।" हिंदी भाषा जब ज्ञान–विज्ञान की वाहक भाषा बनेगी, तब शिक्षा का सामान्यीकरण होगा। और आम आदमी की भागीदारी बढ़ाने हेतु न्यायालय, संसद आदि का पूरा कामकाज हिंदो भाषा में ही चलना चाहिए। भविष्य में हिंदी का वर्चस्व बढ़ाना हैं तो गंभीर साहित्य भी उपलब्ध कराना पड़ेगा। यह विचार की भाषा, शिक्षा की भाषा, ज्ञान की भाषा होनी चाहिए। हम हिंदी में बहुत कम सोचते है, चूंकि पठनीय सामग्री अंग्रेजी से अनूदित है। समग्र सामाजिक विज्ञानों में, पूरे विज्ञान के विषयों में जो सोचने की पध्दति है, वह हिंदी से नहीं उपजती है, यह हमारा बड़ा दुर्भाग्य है।

वर्तमान समय में हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है। विश्व के 150 से अधिक देशों में हिंदी के अध्ययन–अध्यापन का कार्य हो रहा है। अमेरिका में भी हिंदी के अनुकूल वातावरण है। अनेक हिंदी संस्थाएं बच्चों को शनिवार–रविवार के दिन हिंदी पढ़ाती हैं। कुछ स्कूलों में हिंदी का सिलेबस रखा गया है। विदेशों के लगभग 91 विश्वविद्यालयों में 'हिंदी चेअर' है। मॉरीशस में 300 प्राथमिक एवं माध्यमिक पाठशालाओं में हिंदी विषय एवं माध्यम के रुप में पढ़ाई जाती हैं। दुबई में लाखों भारतीय रोजगार के सिलसिले में रहते हैं। इन भारतीयों में सबसे ज्यादा केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक जैसे दक्षिण भारतीय राज्यों के लोग हैं। ये सब आपस में संवाद के लिए हिंदी का ही प्रयोग करते हैं। इन लोगों से संवाद के लिए वहां की सरकार ने भी हिंदी को ही अपनाया हैं।

आज हिंदी के प्रचार–प्रसार से संलग्न लगभग 20 से अधिक संस्थाएं कार्यरत हैं–

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, चेन्नई, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा आदि। हिंदी भाषा विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की राजभाषा होने के कारण इस भाषा के प्रति अनेक देशों में रुचि बढ़ रही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी भाषा को आधिकारिक भाषा का स्थान दिलाना 'विश्व हिंदी सचिवालय, मॉरीशस' का मुख्य लक्ष्य रहा है। आज–तक इस हेतु ग्यारह विश्व हिंदी सम्मेलन हो चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की छह आधिकारिक भाषाएं – अरबी, चीनी, अंग्रेजी, फ्रेंच, रुसी और स्पेनिश आदि हैं। परंतु संचालन केवल अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा में ही होता है।

विश्व में जनसंख्या अनुपात की दृष्टि से हिंदी का पांचवां क्रम आता है। 1. चीन (मंदारिन), 2.स्पेन (स्पेनिश), 3.ब्रिटेन (अंग्रेजी), 4.रुस (रशियन), 5.भारत (हिंदी)। भारत की आबादी लगभग 125 करोड़ से अधिक है। परंतु हिंदी केवल 26 करोड़ लोग बोलते हैं। जबकि स्पेन की आबादी केवल साढ़े चार करोड़ हैं, परंतु 4 करोड़ 37 लाख लोग स्पेनिश बोलते हैं। हम उम्मीद करते हैं कि भविष्य में हिंदी का आंकड़ा बढ़ेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी को आधिकारिक भाषा का दर्जा दिलाने हेतु लगभग 129 देशों का समर्थन जुटाना कठीन काम नहीं है। परंतु इसमें तकनिकी आर्थिक समस्या यह हैं कि समर्थक देशों को 400 करोड़ रुपयों का भुगतान वहन करना पड़ता है। भारत सरकार की विदेश मंत्री सुषमा स्वराज जी ने कहा हैं कि, "हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा के रुप में मान्यता दिलाने को लेकर भारत प्रतिबध्द है। उसमें मुख्य समस्या यह है कि समर्थक देशों को संबंधित राशि देनी होगी। यदि यह राशि सिर्फ भारत को देनी होती तो 400 करोड़ रुपये दे देते।"

हमारी यह हीनभावना है कि हिंदी में अंग्रेजी मिलाने से स्तर ऊंचा हो जाता है, पूर्णतया निराधार है। अमिताभ बच्चन जी के 'कौन बनेगा करोड़पति' की सफलता से सभी परिचित है। अपितु हिंदी की फिल्म 'मोहब्बतें' तथा 'रामायण–महाभारत' धारावाहिक इसका उदाहरण है।

साहित्य की दृष्टि से देखा जाए तो एशिया के देशों में सर्वाधिक पाठक हिंदी साहित्य के हैं। हिंदी भाषा एवं साहित्य की गरिमा को आलोकित करने के लिए 500 पत्र–पत्रिकाएं छप रही हैं। विभिन्न विषयों पर हिंदी में प्रति–दिन 20 पुस्तकें छपकर बाजार में आ जाती हैं।

मध्य प्रदेश सरकार ने इस बात का भी भ्रम तोड़ा है कि अभियांत्रिकी और चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में हिंदी में पढ़ाई नहीं होती हैं। 'पाणिनि संस्कृत विश्वविद्यालय' तथा 'अटल बिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय' अभियांत्रिकी और चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में हिंदी में पढ़ाई करा रहा हैं।

भारत सरकार के तत्कालीन विदेश मंत्री स्मृति–शेष अटल बिहारी वाजपेयी जी ने सन 1977ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी में भाषण दिया था, जो संयुक्त राष्ट्र संघ में किसी भी भारतीय का पहला हिंदी भाषण था। वर्तमान समय में भी देश के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी के 90 फीसदी से अधिक भाषण हिंदी में होते हैं। वे गुजराती है लेकिन उनके उच्चारण में यह कहीं स्पष्ट नहीं होता। वे शानदार हिंदी बोलते हैं। उन्होंने विश्व के विभिन्न मंचों पर हिंदी में विचार व्यक्त कर हिंदी को महिमा बढ़ाई है। उपराष्ट्रपति वेंकैय्या नायडू जी, शशि थरुर जी, मणिशंकर अय्यर जी, जयराम नरेश जी आदि मूल रुप से हिंदी भाषी नहीं है, लेकिन बहुत अच्छी हिंदी जानते हैं। हिंदी का बहुत अच्छा प्रयोग भी करते हैं।

देश की सरकार वचनबध्द है कि हिंदी परिपक्व होते ही और सबके द्वारा स्वीकृत होते ही पूर्ण राजभाषा का दर्जा पा सकेगी। केंद्र की सरकार ने हिंदी के विकास के लिए गृह मंत्रालय के अधीन राजभाषा विभाग स्थापित कर रखा है। अनुवाद, प्रशिक्षण और शब्द निर्माण आदि के निमित्त एकांत भाव से समर्पित अनेक सरकारी संस्थान वर्षों से कार्यरत हैं। सरकारी कार्यालयों में हिंदी अधिकारी नियुक्त हैं। सरकारी तंत्र की तमाम सीमाओं के बावजूद इनके द्वारा महत्वपूर्ण कार्य भी हुआ है।

भारत विश्व का अनोखा और समृध्द देश रहा है। इस देश में लगभग 35 करोड़ से अधिक जोशिलें युवा हैं। इनका सही मात्रा में प्रयोग होना चाहिए। इन युवाओं को पांच भाषाएं आना आवश्यक है। सबसे पहले मातृभाषा, राज्यभाषा, राजभाषा, अंतर्राष्ट्रीय भाषा इन चार भाषाओं के साथ–साथ सूचना–प्रौद्योगिकी की भाषा अर्थात् कम्प्यूटर की पांचवीं भाषा आना अनिवार्य हुआ है। इन पांच भाषाओं पर जिन

युवाओं का अधिकार हैं उनके लिए संभावना–भरा पूरा विश्व पटल खुला है।

हिंदी भाषा का वैश्विक–परिदृश्य देखने के पश्चात् हम अंत में इतना ही कह सकते हैं कि हिंदी भाषा भविष्य में संयुक्त राष्ट्र संघ की सातवीं आधिकारिक भाषा बनकर अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनेगी। देश का राजनीतिक–परिदृश्य हिंदी के अनुकूल है। वर्तमान सरकार में ऐसा कोई समूह है ही नहीं जो हिंदी का मुखर विरोधी हो। हिंदी विरोध के लिए सबसे कुख्यात राज्य तमिलनाडु रहा है। वहां की कोई पार्टी इनकी सरकार में भागीदार नहीं है। दूसरा विरोध बंगाल के कुछ समूहों का था। वहां की भी कोई दूसरी पार्टी सरकार में भागीदार नहीं है। परंतु इसके लिए सरकार के पास साहस और दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता है। सरकार यदि ऐसा साहसपूर्ण कदम उठाती हैं तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि बहुत जल्द 'राजभाषा' हिंदी 'राष्ट्रभाषा' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय भाषा' बनेगी।

संदर्भ :

1. विश्व हिंदी पत्रिका (2016) – प्र.सं.प्रो. विनोद कुमार मिश्र।
2. विश्व हिंदी पत्रिका (2017) – प्र.सं.प्रो. विनोद कुमार मिश्र।
3. भोपाल से मॉरीशस – सं.अशोक चक्रधर।
4. गगनांचल (11वां विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक) – सं.डॉ.हरीश नवल।
5. स्मारिका (विश्व हिंदी सम्मेलन, मॉरीशस–2018) – प्र.सं.प्रो.राम मोहन पाठक।
6. आधुनिक हिंदी साहित्य के विविध परिदृश्य – डॉ.मजीद शेख।
7. लोकमत समाचार (रविवार – 19 अगस्त, 2018) – सं.विकास मिश्र।
8. लोकमत समाचार (सोमवार – 20 अगस्त, 2018) – सं.विकास मिश्र।
9. लोकमत समाचार (शनिवार – 15 सितंबर, 2018) – सं.विकास मिश्र।

संपर्क : सहायक प्राध्यापक एवं शोध निर्देशक,हिंदी विभाग,प्रतिष्ठान महाविद्यालय,पैठण,
जिला . औरंगाबाद . 431107 (महाराष्ट्र)
चलित दूरभाष . 09765944586
ई.मेल. majidmshaikh@gmail.com

भाषिक कौशल स्वरूप एवं संकल्पना

प्रा. डॉ. योगेश व्ही दाणे

सहा. प्राध्यापक (हिंदी विभाग),

एस.एस.जी.एम. कॉलेज, कोपरगाँव (शिरडी)

तहसील : कोपरगाँव, जिला : अहमदनगर (महाराष्ट्र)

दूरभाष ९०४९८६६८६१

ई मेल : yogeshdane11@gmail.com

प्रस्तावना :

'भाषा' मानव व्यवहार का महत्पूर्ण अंग है। मानव जीवन में भाषा के उपयोग की इतनी अधिकता है कि, साँस लेने के पश्चात् भाषा के प्रयोग की ही गणना की जा सकती है। भाषा मानव जीवन के लिए अनिवार्य उपकरण है, उसके अभाव में मानव जीवन की प्रक्रिया अपूर्ण है। मनुष्य समाज से ही भाषा सीखता है और समाज के परिप्रेक्ष्य में भाषा सीखता है। साथ ही भाषा का प्रयोग भी समाज के संदर्भ के भीतर रहकर ही करता है। यही कारण है कि भाषा का अध्ययन समाज के संदर्भ के बिना अधूरा है। वस्तुतः भाषा ही मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का सबसे बडा प्रमाण है और भाषा की सहायता से ही समाज बनता है। भाषा रूपी सूत्र न हो तो व्यक्ति और समाज विशृंखल हो जाएँगे। कामताप्रसाद गुरु के अनुसार - ``भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों को भली भाँति प्रकट करता है, और दूसरों के विचार आप स्पष्टतः समझ सकता है।''[1] दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि भाषा समाज सापेक्ष वस्तु हैं, अतः मानव जीवन से उसका घनिष्ठ संबंध है। यह निर्विवाद है कि मनुष्य मुलतः सामाजिक प्राणी है। समाज के अभाव में उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास असंभव है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन का मुख्य आधार भाषा है। भाषा के अभाव में सामाजिक जीवन की कल्पना संभव नहीं है।

*** भाषिक कौशल और व्यक्तित्व विकास :**

भाषा यह भावना, विचार प्रकट करने का प्रभावी माध्यम है। अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए भाषा बोलना एवं लिखना दोनों जरुरी है। इन दोनों साधनों द्वारा ही मुनष्य के व्यक्तित्व में कुंदन की भाँति निखार आता है, उच्चारण से संस्कार एवं लेखन से विद्वत्ता प्रकट होती है। मौखिक अभिव्यक्ति यह समृद्ध व्यक्ति की निशाणी है। विचार-भावना, क्रिया-प्रतिक्रिया इनका पहले प्रकटन होता है, वह भाषा के माध्यम से। मौखिक अभिव्यक्ति का अर्थ `भाषा बोलना' भी है। पहले भाषा बोली गयी बाद में लिपि का उद्भव हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि, सबसे पहले भाषा अभिव्यक्ति का प्रथम माध्यम `बोलना' वाणी है। भाषा यह संवाद का प्रथम माध्यम है, इसलिए `भाषिक कौशल' का स्वरूप एवं मनुष्य के व्यक्तित्व से उसका संबंध समझना जरुरी है।

भाषिक कौशल :

`कौशल' को अंग्रेजी में `स्किल' (Skill) कहा जाता है। उसे स्वीकारने एवं आत्मसात करने के लिए मन से तय किया जाता है। अंतः प्रेरणा से ही `स्किल' या कौशलों का विकास होता है। जीवन जीने के लिए जो कला चाहिए, वह भी कौशलों पर आधारित होती है। `कौशल' की व्याप्ति सृष्टि के कण-कण में है। `मयूर' के पंख में भी विधाता ने जो रंग भरे है, उसे भी कौशल ही कहा जाएगा। संक्षेप में कोई भी शास्त्र, कला या हस्तकला का प्रस्तुतीकरण एवं दैनिक जीवन में उपयोग लाने की क्षमता कौशल कहा जाएगा। मराठी शब्दकोश में कौशल का अर्थ - ``कसब, कारागिरी, खुबी, चातुर्य,तरबेजपणा, नैपुण्य, पारंगत, हातोटी आदि दिया है।''[2]

भाषा शिक्षा के प्रमुख कौशल :

भाषा के दो रूप होते है - मौखिक और लिखित। मनुष्य इन दोनों रूपों का प्रयोग अपनी सोच-विचार का, एक-दूसरे का, एक-दूसरे के साथ विचारों

का आदान-प्रदान करने के लिए करता है। सुनने, बोलने की क्रिया मौखिक रूप द्वारा करता है तथा पढने-लिखने रूप का प्रयोग करता है। छोटा बच्चा बोलकर, सुनकर, पढकर और अपने भावों को कागज पर लिखकर अपने विचारों का लेनदेन करता है। इस प्रकार इन योग्यताओं को विकसित करना ही भाषा शिक्षण का उद्देश्य है। इन्हें ही भाषा शिक्षण के कौशलात्मक उद्देश्य कहा जाता है। ये कौशलात्मक उद्देश्य ही भाषाई कौशल कहे जाते है। श्रवण, वाचन, भाषण एवं लेखन ये कौशल केवल पढने के लिए ही नहीं, जीवन जीने के लिए, व्यवहार के लिए उपयोगी सिद्ध होते है। यह चरों कौशल ऊपर से भले ही अलग दिखाई देते है परन्तु वे सब अन्योन्याश्रित है। अच्छा सुनना (श्रवण), समझा-बुझाकर बोलना (भाषण) आकलन करते हुए ग्रहण करना (वाचन) और यह तीनों कौशलों का मानसिक रूप से समन्वय (लेखन) ही है।

भाषा शिक्षा के प्रमुख कौशल

1) श्रवण 2) भाषण 3) वाचन 4) लेखन

उपर्युक्त कौशलों के आधार पर ही व्यक्ति भाषा व्यवहार में कुशलता प्राप्त कर सकता है। इन कौशल का भाषा क्षमता विकास में महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन चारों कौशल का हम प्रस्तुत आलेख में विचार करेंगे।

1) श्रवण कौशल :

`भाषा' सीखने का प्रथम चरण `श्रवण' है। कानों द्वारा जिन भावों को ग्रहण किया जाता है, उनकी ध्वनियाँ सार्थक होती है- यथा - ताली बजाना, चुटकी बजाना, बोलना आदि। हमारे आसपास परिवेश की घटनाएँ वस्तु, मानव, प्राणी, पक्षी, उनकी विभिन्न आवाज, बोलने की पद्धतियाँ, विचारों का आकलन आदि श्रवण के माध्यम से ही होता है। मनुष्य को ईश्वर ने दो कान एवं एक मुख दिया है, इसका कारण भी यही है कि कम बोला जाए और ज्यादा सुना जाये। मौखिक संज्ञाओं को अर्थ प्राप्त करने की क्रिया श्रवण कौशल से होती है। भिन्न-भिन्न साहित्यिक क्रियाओं का आनंद भी श्रवण द्वारा किया जा सकता है। अतः सिर्फ मौखिक कौशल के लिए ही नहीं वरन पठन एवं लेखन कौशल को विकसित करने के लिए भी श्रवण कौशल की जरुरत होती है।''[3]

श्रवण कौशल के लाभ :

1. श्रवण से ज्ञान प्राप्ती होती है, ज्ञान प्राप्ती से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है।
2. सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं का हल करने के लिए श्रवण कौशल जरुरी है। उसे स्वीकारना चाहिए।

श्रवण कोशल की बाधाएँ :

1. वक्ता के बोलते समय उच्चारण में सुसुत्रता होने से, साथ ही वक्ता का विषय परिचित न होने से भी श्रवण कौशल में बाधा आती है।
2. श्रवण करते समय श्रोता की मानसिकता ठीक न हो, या शारीरिक समस्या हो तो बाधाएँ होती है।

श्रवण कौशल सुधार के उपाय :

1. प्रसन्नचित्त से, मनोयोगपूर्वक श्रवण करना चाहिए।
2. विषय के साथ एकरूप होकर, स्वराघात-बलाघात, स्वर के उतार-चढाव के अनुसार अर्थग्रहण कर श्रवण करना चाहिए।

श्रवण कौशल की विधियाँ :

श्रृतलेख, सस्वर वाचन, वाद-विवाद, प्रवचन, भाषण, वार्तालाप, आदेश कहानी सुनकर श्रव्य सामग्री का प्रयोग (चलचित्र, ग्रामोफोन एवं टेपरिकॉर्डर, दूरदर्शन, वीडियो आदि) साधनों एवं विधियों का प्रयोग कर हम छात्रों के श्रवण कौशल को विकसित करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

2) भाषण कौशल/ मौखिक अभिव्यक्ति कौशल :

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के दृष्टिकोण से मौखिक प्रकाशन का सर्वोच्च स्थान है। हम घर-परिवार के सदस्य, पाठशाला एवं दैनिक व्यवहार में विचारों का आदान-प्रदान करते है। यही विचारों के आदान-प्रदान को संभाषण कहते हैं। यही संभाषण जब एकमार्गी हो जाता है, वह संभाषण एक व्यक्ति द्वारा अनेक व्यक्तियों के सामने बोला जाए तो वह भाषण या मौखिक अभिव्यक्ति, भाषण कहलाती है। इस तरह से ''मुख से व्यक्त होने वाली भाषा मौखिक भाषा है, और मुख के अवयवों द्वारा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति मौखिक अभिव्यक्ति है।''[4]

मौखिक अभिव्यक्ति महत्व :

1. मौखिक भाषा के द्वारा विचारों को नए ढंग से आदान-प्रदान कर ज्ञान में वृद्धि होती है। शिक्षण पद्धति प्रभावी एवं रोचक बनाने में मदद होती है।
2. मौखिक अभिव्यक्ति से आत्मविश्वास में वृद्धि होकर व्यक्तित्व में निखार आता है। राजनीतिक जीवन में सफलता हासिल हो सकती है।

मौखिक भाषा प्रकाशन शिक्षण के उद्देश्य :

1. छात्र सुश्राव्य वाणी से आत्म प्रकाशन कर सकेगा।
2. छात्र विषय की एकता को अक्षुण्ण बनाये रखेगा, उचित हावभाव के साथ, शिष्टाचार का पालन कर बोल सकेगा।

मौखिक अभिव्यक्ति कौशल में आनेवाली बाधाएँ :

1. एकाग्रता का अभाव / कमी, आत्मविश्वासपूर्ण वक्तव्य की कमी।
2. अशुद्ध उच्चारण एवं कठिण शब्दों का प्रयोग करने से वार्तालाप नीरस हो जाता है। अशिष्ट मौखिक अभिव्यक्ति भी संबंधों का बिगाड देती है।

मौखिक अभिव्यक्ति कौशल सुधार के उपाय :

1. भाषा पर प्रभुत्व होना जरुरी, उसके लिए पठन-वाचन जरुरी है।
2. बोलने में स्पष्टता होनी चाहिए। सरल व सुबोध भाषा का सर्व सामान्य भाषा का प्रयोग करना चाहिए। व्याकरणिक नियमों का पालन होना चाहिए।

मौखिक भाव प्रकाशन के साधन :

कविता पाठ अंताक्षरी प्रतियोगिता, सस्वर वाचन, वार्तालाप, कहानी सुनाना, प्रश्नोत्तर, चित्र वर्णन, नाटक प्रयोग, वाद-विवाद, भाषण कला, संवाद पाठ आदि पाठ्य क्रियाओं एवं सह-पाठ्य क्रियाओं का आयोजन कर शिक्षक अपने छात्रों को मौखिक अभिव्यक्ति का अभ्यास करने के उचित अवसर प्रदान कर सकता है। अस्तु, भाषा-शिक्षा ही नहीं अपितु समस्त वास्तविक शिक्षा का आधार एक सीमा तक मौलिक भाव-प्रकाशन तथा उच्चारित भाषा ही है।

3) वाचन कौशल :

''वाचन क्रिया `वाक्' धातु से बना है। जिसका अर्थ है - शब्द, वाणी, कथन।''[5] वाचन एक कौशल है, यह एक ऐसी क्रिया है, जिसमें प्रत्येक शब्द के साथ ध्वनि एवं अर्थ दोनों ही संबंध रहते है। अत$: वह क्रिया जिसमें शब्दों के साथ अर्थ, ध्वनि भी निहित हो `वाचन' कहलाती है। भाषा, इतिहास समाजशास्त्र आदि विषय के अध्ययन में वाचन महत्वपूर्ण है। किताबें, अखबार, मासिक, पत्रिकाओं के पढने से ज्ञान में वृद्धि होती है। ''वाचन के दो रूप या प्रकार होते हैं – 1) सस्वर वाचन, 2) मौन वाचन। दोनों में उल्लेखनीय अंतर यह है कि जो वाचन `सस्वर' होता है उसमें शुद्ध उच्चारण के साथ ही साथ अर्थ एवं भाव के अनुरूप स्वरों का उतार-चढाव, उचित स्थान पर विराम और सुयोग्य स्वर नियोजन, एवं ध्वनि अभिव्यक्ति का ध्यान रखना पडता है जब कि `मौन वाचन' में बुद्धि की क्रियाशीलता और भाव को अच्छी तरह समझने की ओर विशेष ध्यान रहता है।''[6]

वाचन प्रक्रिया के घटक :

1. शब्द बोध / संबोध - शब्द पर दृष्टि डालते ही उसका अर्थ समझ में आना।
2. अपूर्ण शब्दबोधन - वाचन क्रिया सुव्यवस्थित रूप से न होने पर अपूर्ण शब्दबोध होता है। उदा. दृष्टी हिन व्यक्ति - दृष्ट व्यक्ति, गाळणी - गाळ
3. वाचन दिशा - वाचन करते समय एक लय से वाचन न हुआ हो तो दृष्टि हट जाने से गलत वाक्य पढकर अर्थ गलत निकलता है।
4. शब्दोंच्चार - सही शब्दोच्चार न होने से गलत अर्थ निकलता है।

वाचन शिक्षा के उद्देश्य - वाचन शुद्ध होना चाहिए। वाचन कला को पूर्णतया आत्मसात किए जाने पर ही यह साध्य होता है।

1. छात्रों को शब्द ध्वनियों का उचित ज्ञान कराना।
2. छात्रों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति जागृत करना, वाचन के प्रति रुचि उत्पन्न करके छात्रों को साहित्य की ओर आकर्षित करना।

वाचन कौशल शिक्षा के लाभ :

1. नियमित वाचन से बालकों पर स्वर संस्कार होता है। ज्ञान की वृद्धि होती है।
2. छात्रों की व्यावहारिक शब्द संग्रह की वृद्धि होती है। विचार प्रगल्भ बनते है और लेखन शैली से परिचय होता है।

वाचन कौशल में आनेवाली बाधाएँ/दोष :

1. शारीरिक स्वास्थ्य ठीक न होने से वाचन ठीक नहीं होता। उदा. सिरदर्द।
2. शारीरिक हालचाल के कारण भी वाचन कला ठीक नहीं हो सकती। उदा. सिर, पैर हिलाना।

वाचन शिक्षा के साधन/सामग्री :

1. मनोरंजनात्मक कहानी संग्रह, 2) लोककथाएँ, 3) यात्रा-वर्णन, 4) नाटक, 5) वार्ता-पुस्तकें, 6) वार्तालाप इस प्रकार की सामग्री से बालकों पर स्वर संस्कार होंगे, छात्रों में अवसर के अनुकुल भाषा का प्रयोग करने की क्षमता का निर्माण होगा और साथ में व्यावहारिक शब्द संग्रह की वृद्धि भी होगी।

वाचन शिक्षा की उपयोगिकता :

1. वाचन से छात्र में नेतृत्व का विकास होता है, भाषण अंग भी विकसित होता है।
2. वाचन से समय का सदुपयोग करके ज्ञान वृद्धि और ज्ञानार्जन भी बढ सकता है।

4) लेखन कौशल :

`भाषण' और वाचन जैसा ही लेखन भी आत्माविष्कार और आत्मविकास का साधन है। भाषा के अध्ययन के विकास की वह अंतिम सीढी है। प्राप्त किया हुआ ज्ञान को व्यक्त करने के लिए लेखन शैली का उपयोग किया जाता है। `मनुष्य अपने मन के भावों को दूसरों को समझाने के लिए योग्य शब्दों में लिखकर प्रकट करता है, उसे `लेखन कौशल' कहा जाता है। इसके लिए नियमित लेखन करना उचित है। लिखित अभिव्यक्ति के अनेक रूप है - पत्र लेखन, प्रार्थना, निबंध लेखन, जीवन चरित लेखन, आत्मकथा लेखन, कहानी, संवाद लेखन आदि लेखन कौशल के विकास के लिए सतत प्रयत्नशील एवं प्रसन्न चित्त रहना जरुरी होता है। लेखन से व्यक्ति के विचारों में स्पष्टता एवं विश्वास बढता है।

लेखन अभिव्यक्ति अध्ययन के उद्देश्य :

1. छात्रों को शुद्ध अक्षरविन्यास का ज्ञान कराना, उनमें सृजन शक्ति का विकास करना।
2. छात्रों में अपने अनुभवों को लिखकर, व्यक्त करने की क्षमता को विकसित कर साहित्य के प्रति रूचि जाग्रत करना।

लेखन अभिव्यक्ति के फायदे/लाभ :

1. लेखन सुधार के साथ-साथ छात्रों के लेखन में गुणात्मक विकास भी हो जाता है और उन्हें एक प्रकार से साहित्यिक रचना करने की दृष्टि प्राप्त होती है।

2. छात्रों में भाषाज्ञान विषयक त्रुटियों का परिहार हो जाता है।

लेखन कौशल में आनेवाली बाधाएँ :

1. लेखन कौशल के माध्यम से तुरंत संपर्क नहीं किया जा सकता।
2. लेखन कौशल को विकसित करते समय परिवेश, लेखन साहित्य और जगह व्यवस्थित न हो तो बाधाएँ आती है।

लेखन कौशल के साधन / विधियाँ :

1. लेखन के लिए छात्रों को तैयार करना, 2) वर्णों की रचना सिखाना। 3) शब्दों तथा वाक्यों की रचना की शिक्षा देना - सुलेख, अनुलिपि, प्रतिलिपि, श्रृतलिपि आदि। 4) लेखन अभ्यास कराना / रुपरेखानुकरण, स्वतंत्र अनुकरण विधि आदि।

लिपि शिक्षा की उपयोगिकता :

1. लिखित कौशल के द्वारा ही बच्चे की योग्यता का मूल्यांकन किया जाता है।
2. लिखित भाषा से साहित्य भंडार में वृद्धि होती है, व्यावसायिक, एवं औद्योगिक प्रगति के लिए लिखित भाषा जरुरी है।

निष्कर्ष :

मनुष्य का जीवन सफल होने के लिए भाषिक कौशल की जरुरत है। श्रवण, भाषण, वाचन और लेखन यह चारों कौशल आसानी से प्राप्त नहीं किए जा सकते। उसके लिए चाहिए सार्थक प्रयास, कडी मेहनत। भाषिक कौशल्यों से मनुष्य को जरुर लाभ होते है। मनुष्य के सफल जीवन की मास्टर चाबी कौशल ही है। उसी को प्राप्त कर ही मनुष्य सफल जीवन जी सकता है। उपर्युक्त चारों कौशल की प्राप्ति से छात्रों में साहित्य सृजन की प्रेरणा, आस्था, श्रद्धा, साहित्य प्रेम, देशप्रेम, मानव प्रेम, सद्भावना, संवेदनशीलता का विकास हो जाएगा। `वाचन' कौशल से छात्रों में नागरिक जीवन की सफलता, वाचन से वाणी की शुद्धता, लेखन से कुशलता, और संभाषण से भावाभिव्यक्ति हासिल हो सकती है। प्रस्तुत आलेख में `भाषिक कौशल संकल्पना एवं स्वरूप' उसके लाभ बाधाएँ एवं उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। मेरा शोध आलेख निश्चित ही शोधार्थियों को लाभदायी सिद्ध होगा ऐसी अभिलाषा रखता हूँ।

संदर्भ ग्रंथ :

1. भाषा और भाषाविज्ञान – डॉ. नरेश मिश्र, पृ. 8
2. व्यावहारिक उपयोजित मराठी, संपादन डॉ. संदिप सांगळे, पृ. 19
3. हिंदी शिक्षण विधियाँ, श्रीमती शशिबाला, पृ. 27
4. हिंदी शिक्षण - डॉ. रामशकल पाण्डेय, पृ. 58
5. हिंदी शिक्षण विधियाँ, श्रीमती शशिबाला, पृ. 31
6. हिंदी की अध्यापन पद्धति, स.रा. केणी, ह.कृ.कुलकर्णी, पृ. 248

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

''सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत ग्रामीण बालिका शिक्षा की वर्तमान स्थिति-एक अध्ययन''

सत्येन्द्र कुमार पाल
अनुपम सिंह
शोद्य छात्र शिक्षाशास्त्र
विभाग
दी0 द0 उ0 गो0
विश्वविद्यालय,गोरखपुर

वर्तमान दुनिया में शिक्षा और विकास के बीच सीधा सम्बन्ध है। विकसित देशों में मानव संसाधन विकास के के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण उपकरण है। दुनिया की जनसंख्या का आधा हिस्सा महिलाओं की है। इस लिए विकास में उनकी भूमिका को नकारा नहीं जा कसता। भारत में आधा से अधिक महिलाएं गांवों में निवास करती है। देश की अर्थव्यवस्था में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। इन्हे विकास की प्रक्रिया में बराबर का भागीदार माना जाना चाहिए और अपनी भूमिका बेहतर तरीके से निभा सकें इसके लिए जरूरी शिक्षा व प्रशिक्षण उन्हें मिलना चाहिए। इससे उनके कार्य क्षमता का विस्तार तो होगा ही, उनका अपना जीवन स्तर भी सुधरेगा।

स्वतंत्रता के बाद भारत में 14 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था कर दी गई। लेकिन विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं और आर्थिक कारणों से लड़कियों को स्कूलों में नहीं भेजा गया। सब जगह स्कूल थे भी नहीं इसलिए लड़कियां स्कूल नहीं जा पाती थीं। धीरे-धीरे यह समस्याएं समझ में आई और देश में साक्षरता दर खासतौर से बालिकाओं में साक्षरता बढ़ाने पर विशेष ध्यान देने की जरूरत पर जोर दिया गया। यह इस लिए भी माना जाने लगा कि अगर एक लड़की शिक्षित होती है तो माँ बनने पर उससे उसका पूरा परिवार शिक्षित हो जाता है। शिक्षा की नींव प्रारम्भिक शिक्षा है जिसमें प्राथमिक और उच्चतर प्रारम्भिक शिक्षा सम्मिलित हैं। इस नींव को सुदृढ़ करने तथा सभी के लिए गुणवता पूर्ण सार्वभौमिक पहुँच के शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार (आर0टी0आई0) अधिनियम 2009 के तहत दिया गया जो 01 अप्रैल 2010 से लागू है।

बालिका शिक्षा सम्बन्धी योजनाए:-

शिक्षा गारण्टी योजना सर्व शिक्षा अभियान का ही एक घटक है। जिसका उद्देश्य स्कूल नहीं जाने वाले बालक-बालिकाओं को बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का प्रयास है। इस शिक्षा योजना में दुर्गम क्षेत्र की बस्तियों जहाँ एक किलोमीटर के दायरे में औपचारिक शिक्षा के लिए कोई विद्यालय मौजूद न हो और 6-14 वर्ष आयुवर्ग के लगभग 15 से 25 बच्चे उपलब्ध हों, उन्हें साक्षर बनाने का प्रयास है। पहाड़ी तथा वनवास क्षेत्रों में यह कार्यक्रम 10 बच्चों की उपलब्धता पर ही निर्धारित की गई है। इसके साथ-साथ समाज के वंचित वर्ग के बच्चे जैसे-बाल श्रमिक, सड़कों पर जीवन-यापन करने वाले, विषम परिस्थितियों वाले बच्चे, ऐसी बालिकायें जिनकी आयु 9 वर्ष से अधिक है तथा परिवार द्वारा उनकी शिक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है, इन सभी के लिए वैकल्पिक शिक्षा का प्रावधान किया गया है।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन:-

भारत के सभी अनपढ़ लोगों को साक्षर करने के उद्देश्य से 1988 में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की शुरूआत की गई। इस मिशन से प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। ग्रामीण क्षेत्रों में इस अभियान ने लोगों को जैसे नींद से जगा दिया हो। साक्षरता की मसाल लिए इस अभियान के साथ गांवों में लोगों के मन से ही नहीं उनके जीवन से भी अशिक्षा

का अधियारा काफी हद तक समाप्त करने में कामयाब रहें।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के रूप में साक्षर भारत (एसबी) का आरम्भ 08 सितम्बर 2009 को किया गया था। यह योजना 31 मार्च 2012 तक प्रचलन में थी। अब साक्षर भारत कार्यक्रम को 12वीं पंचवर्षीय योजना (2012-17) में सम्मिलित कर लिया गया है।

निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा-

केन्द्र ने 2002 में संविधान संशोधन प्रस्ताव पास किया जिसमें अनुच्छेद 21 ए को सम्मिलित किया गया। इस कानून में 6-14 वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया है। इस अनुच्छेद में सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि शिक्षा को मौलिक अधिकार के दायरे में ला दिया गया। 04 अगस्त 2009 को शिक्षा का अधिकार कानून संसद में पारित किया गया और 27 अगस्त 2009 को भारत सरकार के गजट में प्रकाशित हुआ। 01 अप्रैल 2010 में यह सारे देश में लागू कर दिया गया।

मध्यान्ह् भोजन कार्यक्रम:-

गांव में पूर्ण साक्षरता प्रापत करने के लिए 'मध्यान्ह भोजन कार्यक्रम' की शुरूआत 15 अगस्त 1995 में की गई। इस समय इसके माध्यम से लगभग 15 करोड़ बच्चों को लाभ पहुॅच रहा है। 28 नवम्बर 2001 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक फैसले में सभी राज्यों को 'मिड-डे मील' देने का आदेश जारी किया। इस योजना से गांव के उन परिवारों की लड़कियों को स्कूल जाने में सहुलियत हुई, जो गरीबी के कारण और भूखे पेट रहने के कारण स्कूल नहीं जा पाती थीं।

कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय:-

इस योजना को 2004-05 में लागू किया गया है। कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय केन्द्रीय शासन की नयी शिक्षा परियोजना है। इसके अन्तर्गत बालिकाओं की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए आवासी विद्यालय (भोजन व्यवस्था सहित) दसवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि से व्यवस्था की गई है। यह विद्यालय उन विकास खण्डो में संचालित है जहाँ ग्रामीण महिला साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से कम है। कस्तूरबा गाँधी विद्यालय में कक्षा 6 से 8 तक की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार के विद्यालयों की मानीटरिंग जिला स्तर पर डायट के प्राचार्य की अध्यक्षता में गठित जिला जेण्डर यूनिट द्वारा की जाती है। सर्व शिक्षा अभियान में मार्च 2007 तक 2180 कस्तूरबा गाँधी विद्यालय को मंजूरी दी गयी थी।

मीना मंच:-

उत्तर प्रदेश में बालिका शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए प्रत्येक जनपद में उच्च प्राथमिक स्तर पर मीना मंच का गठन किया गया है। मीना युनिसेफ द्वारा निर्मित आडियों विजुअल माध्यम पर आधारित 12 कैसेट पर विभाजित शैक्षिक कार्यक्रम में नायिका है जो विभिन्न चुनौतियों का सामना करते हुए विद्यालय जाने में सफल होती है। इसी नाम को लेकर मीना मंच का गठन किया गया है।

महामाया गरीब बालिका आशीर्वाद योजना:-

उत्तर प्रदेश सरकार ने गरीब बालिकाओं की दशा सुधारने, स्त्री-पुरुष लिंग अनुमपात में स्थिरता लाने, बाल विवाह रोकने तथा बालिकाओं की शिक्षा को क्रमबद्ध रूप से चलाने के लिए इस योजना का शुभारम्भ 15 जनवरी 2009 से किया गया है।

सावित्री बाई फूले बालिका शिक्षा मदद योजना:-

उत्तर प्रदेश सरकार ने गरीबी रेखा के नीचे माध्यमिक स्तर पर अध्ययन करने वाली बालिकाओं की शिक्षा को क्रमबद्ध रूप से चलाने हेतु यह योजना आरम्भ की है-

1. गरीबी रेखा से नीचे की बालिकाओं को 11वीं कक्षा में प्रवेश के बाद 15,000 रूपये एवं एक साइकिल दी जायेगी।

2. 12वीं कक्षा में प्रवेश लेने वाली बालिकाओं को 10,000 रूपये अतिरिक्त दिये जायेगे।

3. कार्ड धारक अभिभावकों को बालिकाओं को सम्बन्धित प्रधानाचार्य के माध्यम से आवेदन करना होगा। धनराशि विद्यालय में छात्रा के खाते में जमा की जायेगी।

4. धनराशि एवं साइकिल वितरण जिलाधिकारी की अध्यक्षता में गठित समिति द्वारा किया जायेगा।

5. योजना के लागू होने से कोई भी मेधावी गरीब बालिका स्कूल/कालेज जाने का लम्बा फासला अब शिक्षा में रूकावट नहीं बनेगा।

नेशनल मेरिट-कम-मिस स्कालरशिप:-

यह योजना 2008 में केन्द्र सरकार प्रारम्भ की गई, इस योजना के अन्तर्गत आर्थिक रूप से कमजोर समूह के मेधावी छात्र-छात्राओं के आठवीं कक्षा में स्कूल छोड़ने वालो की संख्या में रोक लगाने के साथ ही साथ बारहवीं माध्यमिक तथा उच्च-माध्यमिक स्तर की शिक्षा जारी रखने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु लागू की गई। गरीब परिवार के बच्चों को इसके अन्तर्गत 500 रूपये दिये जाते हैं।

जनवरी 2013 से मार्च 2014 तक की अवधि के लिए 330076 लड़कियों के लिए 99.02 करोड़ रूपये स्वीकृत हुए। इस प्रकार देखा जाय तो इस योजना से ग्रामीण क्षेत्रों की सभी समुदायों की लड़कियों को शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने में सहायता मिलती है।

कितना बढ़ पाया है शिक्षा का अधिकार:-

स्वतंत्रता के बाद प्रथम पंचवर्षीय योजना से बारहवीं पंचवर्षीय योजना तक बजट में शिक्षा के लिए अलग प्रावधान भी किए गए लेकिन लड़कियों के प्रति आम लोगों की स्वस्थ मानसिकता न होने, स्कूलों कालेजो और सुविधाओं के अभाव में लड़को की अपेक्षा लड़कियां बहुत पीछे रहीं। गांवों के हालात तो और खराब रहें। एक आकड़े के अनुसार देश के लगभग 6 लाख प्राथमिक विद्यालयों में 86 प्रतिशत से अधिक गांवों में है लेकिन अधिकतर ग्रामीण स्कूलों को सरकारी योजनाओं का लाभ नहीं पहुॅच पा रहा है। इस कारण से अभी सैकड़ो गांवों की लड़कियां निरक्षर है। इसके एक नही अनेक कारण है। केन्द्र सरकार ने बालिका पाठशालाओं में अन्य सुविधाओं के साथ-साथ शौचालय बनवाने की मुहिम चलाई हुई है। बच्चियों का बीच में ही स्कूल छोड़ने का एक बड़ा कारण पाठशालाओं में शौचालय न होना भी रहा है। दूर गांवों में आज भी प्राथमिक विद्यालय नहीं है। ऐसे सैकड़ों गांव है जहां के प्राथमिक पाठशालाओं में एक कमरे के अलावा और कुछ भी सुविधा उपलब्ध नहीं है। सरकार ने चालीस बच्चों पर एक शिक्षिका का जो पैमाना प्रस्तावित किया हुआ है, वह भी आधा-अधूरा ही है। एक अध्ययन के अनुसार 34 प्रतिशत परिवार कपड़ों, पुस्तकों और अन्य चीजों की व्यवस्था न दे पाने के कारण लड़कियों को नहीं भेजा जा पा रहा है। इसी तरह बच्चों की अनिच्छा से 15 प्रतिशत परिवार बच्चियों को पाठशाला नहीं भेज पाते हैं। इसका कारण शिक्षिकाओं का बच्चियों के साथ ठीक व्यवहार न होना, 13 प्रतिशत लड़कियां इस लिए पढ़ने नहीं जाती क्योंकि उनके माता-पिता घर या बाहर के कार्यो को उनसे करवाते है।

सरकार नई-नई योजनाओं के माध्यम से सबको जहां शिक्षा दिलाने के लिए आगे कदम बढ़ा रही है वही पर अन्य सुविधाएं प्रदान कर लड़कों और लड़कियों को स्वावलम्बी बनाने और नैतिक धारा में लाने का कार्य भी कर रही है। प्राथमिक शिक्षा ही नहीं उच्च माध्यमिक शिक्षा भी लड़कियों के लिए पूरी तरफ मुफीद बने इसके लिए सरकारी प्रयासों के अलावा व्यक्तिगत स्तर पर तथा गैर-सरकारी प्रयासों को व्यवहारिकता के धरातल पर होना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा एस0के0 और सत्यार्थी, एस0एस0 शिक्षा के अधिकार का क्रियान्वयन, भारतीय आधुनिक शिक्षा, वर्ष 31, अंक-3

2. मालवीय राजीव, शिक्षा के नूतन आयाम, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद-2, 2008

3. गुप्ता एस0पी0, भारतीय शिक्षा का इतिहास विकास एवं समस्यायें, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद-2, 1998

4. इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (अक्टूबर 2010) ''ग्रामीण सामाजिक विकास'' (27-47)

5. राष्ट्रीय इंस्टिूयूट ऑफ एजूकेशन प्लानिंग एण्ड ऐडिमिनिस्टे[a]शन (1990) सन् 2000 तक सभी के लिए शिक्षा, भारतीय परिदृष्य एन0आई0ई0पी0ए0

6. अवस्थी, इन्दिरा (1982) भारत की ग्रामीण महिला, बी0आर0 पब्लिशिग कार्पोरेशन नई दिल्ली।

7. राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति की रिपोर्ट 1958-59 भारत सरकार, नई दिल्ली।

8. पाण्डेय कुमार डा0 बृजेश, ''सर्वशिक्षा अभियान के आयाम, साधार पब्लिकेशन नई दिल्ली 2016, 126-132

9. कुमार संजय, सर्व शिक्षा अभियान, अल्फा पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2009

10. योजना वर्ष 53 अंक, 9 सितम्बर 2008 पृष्ठ -31

11. कुरूक्षेत्र वर्ष 62 अंक-03 जनवरी 2016 पृष्ठ -15

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

भारतीय लोकतंत्र में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने की प्रासंगिकता

अरविन्द प्रसाद गोंड
म.गा. अ.हि .वि.वि वर्धा (महाराष्ट्र)

भारत दुनिया में सबसे बड़ा लोकतंत्र देश है।जिसे सदियों से विभिन्न राजाओं सम्राटों द्धारा शासित और यूरोपीय द्धारा उपनिवेश किया गया। भारत वर्ष 1947 में अपनी आजादी के बाद एक लोकतंत्र राष्ट्र बन गया था उसके बाद भारत के नागरिकों को वोट देने और उन्हें अपने नेताओं का चुनाव करने का अधिकार दिया गया। दूसरी सबसे अधिक आबादी वाला देश भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से दुनिया का सांतवा बड़ा देश हैं। वर्ष 1947 में देश को स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारतीय लोकतांत्रिक सरकार का गठन किया गया था।केंद्र और राज्य सरकार का चुनाव करने के लिये हर साल में संसदीय और राज्य विधासभा चुनाव आयोजित किये जाते है। भारत में सबसे ज्यादा मतदाता है और चुनावों में होने वाले खर्चों कें मामले में भी भारत आगे हैं।

इसी संदर्भ में पिछले कुछ वर्षों से भारत में लोकसभा, विधानसभा चुनाव एक साथ कराने का मुद्दा लगातार चर्चा में रहा है।कभी यह बात कानून एवं कर्मिक मामलों की स्थाई संसदीय समिति की रिपोर्ट 2015 में उजागर होती है।तो कभी प्रधानमंत्री के भाषणों में ,कभी इस मुद्दा पर नीति आयोग द्वारा पहल की जाती है।तो कभी विधि आयोग व चुनाव आयोग द्वारा। हाल मे 29 जनवरी 2018 को संसद के संयुक्त सत्र में दिये जाने वाले राष्ट्रपति के अभिभाषण में भी लोकसभा और विधान सभा चुनाव एक साथ कराने की प्रक्रिया पर जोर दिये।देश में बार बार होने वाले चुनावों को विकास प्रक्रिया में बाधक बताया।लेकिन इसमें कई पेंच हैं और इसके सियासी नतीजे भी पेचीदा हैं।जिसके सूत्र कई घटनाओं के बीच उलझे हुए है।इसके संवैद्यानिक पहलू भी आसान नहीं हैं।आइये पहले इस बहस के इतिहास को जाना जाए कि देश की आजादी के बाद भारत में वर्ष 1952 के पहले आम चुनाव से लेकर वर्ष 1967 तक लोकसभा और विधान सभाओं के चुनाव एक साथ संपन्न होते रहे हैं। लेकिन तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के समय वर्ष 1970 में लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने के फैसले और फिर आगे चलकर दलबदल और कुछ अन्य कारणों से भी राज्य सरकारों के गिरने और वहां राष्ट्रपति शासन लागू होते रहने के कारण लोकसभा और विधान सभा के चुनाव अलग-अलग होने की परम्परा बन गयी। और अब तो तकरीबन प्रत्येक साल और किसी-किसी साल तो दो तीन बार किसी न किसी राज्य में चुनाव होते ही रहते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि एक बार चुनाव प्रक्रिया शुरू हो जाने और चुनाव आयोग की आदर्श आचार संहिता लागू हो जाने के कारण संबंधित राज्य में कल्याण कारी कार्यकमों औंर विकास परियोजनाओं पर एक तरह का विराम लग जाता हैं। इस तरह देखे तो प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति की चिन्ता कहीं न कहीं जायज हमें प्रतीत होती है।

हांलाकि इस मुद्दे पर सबसे पहले चर्चा की शुरूआत वर्ष 1999 की विधि आयोग ने सुझाव दिया कि देश में हर साल चुनाव कराने के छुटकारा मिल सके इसलिए एक साथ चुनाव कराया जाये।यदि देश में होने वाले चुनावों का जायजा लिया जाये तो प्रतिवर्ष किसी न किसी राज्य में चनाव होते ही रहते हैं।कहने का मतलब यह है कि चुनावों की निरंतरता और बारम्बारता से भारत हमेशा इलेक्शन मोड में ही रहता है। इससे न केवल प्रशासनिक और नीतिगत निर्णय प्रभावित होते हैं ,बल्कि राष्ट्रीय संपत्ति और जनता के पैसों का भी नुकसान होता है।

इसलिए नीति निर्देशक के मन में यह विचार आया कि क्यों न लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव साथ

-साथ कराये जाए। यह अच्छा है या बुरा यह तो अब एक चर्चा या विमर्श का मुद्दा बन चुका है।

इसी संदर्भ में स्थाई संसदीय समिति ने यह व्यवस्था दी कि चुनाव दो चरणों में संपन्न कराये जाए।पहले चरण में लोकसभा की मध्यावधि में आधी विधानसभाओं के लिए चुनाव कराये जाए और बाकी बची विधानसभाओं का चुनाव लोकसभा के साथ संपन्न कराये जाये। विधि आयोग ने अपनी 170 वीं रिपोर्ट में इस संदर्भ में यह प्रस्ताव दिया कि जिन विधानसभाओं के कार्यकाल आम चुनाव के 6 महीने बाद खत्म होने वाले हो उनका चुनाव, आम चुनाव के साथ ही करा दिया जाए पर उनके परिणाम की घोषणा 6 महीने बाद नियत समय पाने के लिए एक साथ देश में लोसभा और विधानसभा चुनाव कराने की सिफारिश की थी। उसके बाद वर्ष 2002 में संविधान समीक्षा आयोग या वेंकटचेलैया समिति ने यह सुक्षाव दिया कि लोकसभा और विधान सभा चुनाव एक साथ कराया जाए। जो कि अब एक विस्तृत रूप ले चुका है।

मुख्य सवाल यह है कि भारतीय लोकतंत्र में लोकसभा और विधान सभा चुनाव एक साथ कराए जाने का मुद्दा है या यह भारत में कितना कारगर सिद्ध होगा ? क्या यह देश के संघीय ढांचे के विरूद्ध तो नहीं है ? क्या इससे चुनावी खर्च और भ्रष्टाचार को कम किया जा सकता है ? क्या यह भारत को विकास के पथ पर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध होगा? क्या इसे भारतीय लोकतंत्र को एक नई गति और उर्जा मिलेगी इस पर विचार करने योग्य है ? यह देश हित में है या नहीं अतः इस पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

किसी भी जींवत लोकतंत्र में चुनाव एक आवश्यक प्रक्रिया है और एक उत्सव भी है।स्वस्थ्य एंव निष्पक्ष चुनाव लोकतंत्र की आधारशिला होती है।भारत जैसे देश में अबाध चुनावी प्रक्रिया संपन्न कराना हमेंशा से एक टेढ़ी खीर रहा है। इसके अलावा नीति आयोग ने यह विचार दिया कि वर्ष 2024 में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ करवाना राष्ट्रहित में होगा। इसके लिए कुछ विधानसभाओ के कार्यकाल में कटौती करनी होगी व कुछ के कार्यकाल में विस्तार करना होगा। चुनाव आयोग ने भी इस विचार को सराहनीय बताते हुए इस संदर्भ में वर्ष 2018 के सितम्बर माह तक अपनी सहमति व्यक्त करने की बात की है। बशर्ते सभी राजनीतिक दल इस मुद्दें पर एकमत हो तो अधिकांश सरकारी अमला दो चरणों मेंचुनाव करवाकर इसे वर्ष 2024 तक सुचारू बनाने के पक्ष में है। लेकिन सवाल यह उठता है कि क्या यहइतना आसान है?

एक साथ चुनाव कराने के पक्ष में तर्क

लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने के पक्ष का सबसे पहले पहला तर्क दिया जाता है कि यह विकासोन्मुख विचार है। क्योंकि चुनावों की बारम्बारता के कारण बार-बार आदर्श आचार संहिता यानी माँडल कोड ऑफ कंडक्ट लगाना पड़ता है। जिससे सरकार आवश्यक नीतिगत निर्णय नहीं ले पाती है और विभिन्न योजनाओं- परियोजनाओं की गतिविधियां प्रभावित होती है। इससे विकास अवरूद्ध होता है। आदर्श आचार संहिता चुनावों की शुचिता बरकरार रखने हुते बनाया गया एक विधान है। इसके तहत निर्वाचन आयोग द्वारा चुनाव की अधिसूचना जारी होने के उपरान्त सत्ताधारी दल मंत्रियों या लोक प्राधिकारियों द्धारा किसी नियुक्ति प्रक्रिया परियोजना की घोषणा, वितीय मंजूरी या नई स्कीमों आदि की शुरूआत की मनाही रहती है। इसके पीछे उदेश्य यह है कि इससे सत्ताधारी दल को चुनाव में अतिरिक्त लाभ न मिले। यदि देश में एक ही बार लोकसभा और विधानसभा के चुनाव संपादित किए जाये तो अधिकतम दो मीहने ही आदर्श आचार संहिता लागू रहेगी। बाकी के चार साल दस महीने तो निर्बाध रूप से विकासात्मक परियोजनाओं को संचालित किया जा सकता है। अतः देश को विकास पथ पर तीव्रता से अग्रसर करने हेतु देश में लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराना आवश्यक है। हांलाकि इस

संदर्भ में एक सवाल यह जरूर उठता है कि आज चनावों के विकास में बाधक होने का तर्क स्वीकार कर लिया गया तो क्या कल समुचे लोकतंत्र को ही विकास विरोधी ठहराने वाले लोग आगे नहीं आ जायेगें ? अतः इस मुद्दे पर भी सचेत रहने की जरूरत है। देश में एक साथ चुनाव कराने के पक्ष में -:

दूसरा तर्क

यह दिया जाता है कि इससे चुनावों पर होने वाले भारी खर्च में कमी आएगी और राष्ट्रीय कोष में वृद्धि होगी।क्योंकि चुनावों की अधिकता से देश पर अतिरिक्त धन का बोझ पड़ता है। इसे कम करने के लिये देश में लोकसभा और विधान सभा चुनाव एक साथ कराये जायें।

तीसरा तर्क

यह दिया जाता है कि एक साथ लोकसभा और विधानसभा के चुनाव होने से काले धन पर रोक लगेगी और भ्रष्टाचार पर लगाम कसने में भी मदद मिलेगी। यह चुनाव सुधार की दिशा में भी कारगर सिद्ध हो सकता है। सर्वविदित है कि हमारी अर्थव्यवस्था काले धन की चपेट में बुरी तरह फंसी हुई है और चुनावों के दौरान इस काले धन का खेल खुलकर खेला जाता है। हमारे देश में प्रत्याशियों द्धारा चुनावों में किये जाने वाले खर्च की सीमा तो निर्धारित है लेकिन राजतीतिक दलों द्धारा किये जाने वाले व्यय की कोई सीमा निर्धारित नहीं है। वही दूसरी तरफ लोक प्रतिनिधित्व की धारा 29-ब अनुसार बीस हजार रूपये तक के कैश डोनेशन का व्यौरा रखने की आवश्यकता नहीं होती है, लेकिन बार -बार होने वाले चुनाव राजनीतिक पार्टियों के व्यय को बढ़ाते हैं परिणाम स्वरूप यह कॉर्पोरेटव राजनीतिक दलों के अंतसम्बंध को प्रगाढ करता है अतः जनप्रतिनिधित्व कानून में सुधार के साथ- साथ यदि सारे चुनावों को एक साथ करवाये जाये तो इससे राजनीतिक दलों द्धारा चुनावों पर व्यय की जाने वाली राशि भी कम हो जायेगी। जिससे काले धन के प्रवाह एंव कॉर्पोरेट व राजनीतिक पार्टियों के अंतसंबधों को नियंत्रित करने में सहुलियत होगी।

चैथा तर्क

यह दिया जाता है कि लोक सभा और विधान सभा चुनाव एक साथ कराये जाये तो कर्मचारियों के मूल कृत्यों के निर्वहन में तीव्रता आयेगी,साथ ही लोगों के सार्वजनिक जीवन के व्यवधान में भी कमी आएगी। जैसा कि हमारे यहां चुनाव कराने हेतु शिक्षकों एंव सरकारी सेवा में कार्यरत कर्मचारियों की सेवा ली जाती है।जिससे उनका मूलकार्य प्रभावित होता है इतना ही नहीं चुनाव सुरक्षित हो तथा अवांछनीय तत्वों द्धारा इसे प्रभावित न किया जायें। इसके लिए भी भारी संख्या में पुलिस एंव सुरक्षा बलों की सहायता ली जाती है।इससे शिक्षा एंव सुरक्षा व्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।इसके साथ ही साथ चुनावी रैलियों व प्रचारों से यातायात की परेशानियों में वृद्धि होती है और आम जन जीवन प्रभावित होता है इस कारण लोकसभा और विधानसभा के चुनाव एक साथ हो तो मानव संसाधन के प्रयोग तथा लोक जीवन की सुगमता की दृष्टि से कहीं ज्यादा बेहतर विकल्प होगा।

देश मेंलोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने के विपक्ष में तर्क-:

पहला तर्क

यह देश के संघीय ढांचे के विरूद्ध होगा तथा संसदीय लोकतंत्र के लिए धातक कदम होगा तथा एक साथ लाकेसभा और विधानसभा के चुनाव करवाने में बहुत सी विधानसभाओं की मर्जी के खिलाफ उनके कार्यकाल को घटाया या बढ़ाया जायेगा, जिससे राज्यों की अपनी स्वायत्ता प्रभावित हो सकती है भारत का संघीय ढांचा संसदी प्रणाली से प्रभावित- प्रेरित है

दूसरा तर्क

यह दिया जाता है कि संविधान ने हमें संसदीय माँडल दिया जिसके तहत लोकसभा और विधानसभा पांच

वर्ष के लिए चुनी जाती है। लेकिन एक साथ चुनाव करवाने के मामले में हमारा संविधान मौन है इस संविधान में तो कई ऐसे मुखर प्रवधान हैं जो इस विचार के बिल्कुल विपरित दिखाई देते हैंजैसे अनुच्छेद 83; 2 द्ध ख के अनुसार राष्ट्रपति लोकसभा को और अनुच्छेद 172 (1) कके अंतर्गत राज्यपाल विधानसभा को पांच वर्षों के पूर्व भी भंग कर सकते हैं। अनुच्छेद 356 के तहत राज्यों में राष्ट्रपपति शासन लगाया जा सकता है और ऐसी स्थिति में संबद्ध राज्य के राजनीतिक समीकरण में अप्रत्याशित उलटफेर होने से वहां फिर से चुनाव की सम्भावना बढ़ जाती है।

तीसरा तर्क

यह दिया जाता है कि इसमें लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण होगा।अगर एक साथ दोंनो चुनाव करवाये गये तो सम्भव है कि इससे राष्ट्रीय मुद्दों के सामने क्षेत्रीय मुद्दे गौण हो जायें या फिर क्षेत्रीय मुद्दों के सामने राष्ट्रीय मुद्दें अपना अस्तित्व खो दें। दरअसल, लोकसभा एवं विधानसभा के चुनाव का स्वरूप और मुद्दा बिल्कुल भिन्न होता है। लोकसभा का चुनाव जहां राष्ट्रीय सरकार के गठन के लिए होता है वहीं विधानसभा का चुनाव राज्य सरकार के गठन के लिए होता है। इसलिए एक में जहां राष्ट्रीय मुद्दों जैसे आंतकवाद, नक्सलवाद, राष्ट्रीय सुरक्षा, कश्मीर समस्या, उर्जा सुरक्षा ,अंतराष्ट्रीय संबंध आदि प्रमुखता होती है तो दूसरे में राज्यों के क्षेत्रीय मुद्दे जैसे भूमि अधिग्रहण ,जातीय शोषण ,मजदूरों का विस्थापन ,रोजी रोटी क्षेत्रीय अस्मितायें तथा स्थानीय मुद्दे आदि महत्वपूर्ण होते हैं। यानी मुद्दे के आधार पर लोकसभा एंव विधान सभा चुनाव में भारी अंतर होता है।

निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि देश में लोकसभा और विधनसभा चुनाव एक साथ कराने से हमारे देश की क्षेत्रीय पार्टियों का उल्टफेर कुछ ज्यादा हो जाएगा और इनका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाने की सम्भावना अधिक रहेगी क्योंकि राष्ट्रीय स्तर पर दो ही राजनीतिक दल मजबूत स्थिति में दिख रहे हैं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी और भारतीय जनता पार्टी इसी को ध्यान में रखकर आम जनता अपना मत करती है आज भी। इस तरह चुनाव सुधार में जनप्रतिनिधित्व की धारा को अधतन करना काले धन पर रोक लगाना राजनीति के अपराधीकरण के खिलाफ सख्त कानून बनाना रचनात्मक अविश्वास की परिपाटी को बढावा देना तथा जन शिक्षण के द्धारा लोंगो मे राजनीतिक चेतना व जागरूकता का सही विकास करना जरूरी है, तभी प्रतिनिधि मूलक समावेशी और सहभागी लोकतंत्र की स्थापना सम्भव है। यदि संवैधानिक संशोधन के जरिये एक साथ चुनाव करवा दिये जाये तो फिर भी इस बात की गारंटी नहीं है कि आगे भी यह क्रम बरकरार ही रहे।ध्यान रहे कि जब -जब नेता नीति को छोड़कर राजपाट पाने को आतुर होते तो हैंचुनावों की अधिकता इस देश का दुर्भाग्य बन जाता है ऐसे मे भी जब ‘‘ वन नेशन वन टैक्स ‘‘ का विचार फलीभूत हो सकता है तो ‘‘ वन नेशन वन इलेक्शन ‘‘ को एक बार अजमाने में क्या परेशानी है? इस लिए मध्यममार्गी विकल्प के तौर पर एक बार सभी राजनीतिक दलो की आम सहमती से लोकसभा और विधान सभा चुनाव एक साथ करवाया जा सकता है और पांच वर्षों तक इसमें आने वाली व्यवहारिक दिक्कतों का जायजा लिया जाना चाहिए। यदि इसके बाद सब कुछ सही रहा तो इसे आगे भी आजमाया जाये वरना इसे छोड़कर अन्य विकल्पों की ओर बढ़ा जा सकता है।

संदर्भसूची:

- RSTV Vishesh.10,2018 julywww.rajshavhatv.co.in
- RSTV देशदेशांतर. 14Aug, 2018 www.rajshavhatv.co.in
- RSTV सरोकार.10Sept,2018 www.rajshavhatv.co.in
- उपाध्यया.जयजय,भारतकासंविधान,सेंट्रल लॉ एजेंसी .इलाहाबाद.

मॉब लिंचिंग - कौन है ज़िम्मेदार, क्या है समाधान

अवधेश कुमार 'अवध'

आज के समय में हत्यारी भीड़ का प्रकोप बढ़ता ही जा रहा है। न यह प्राकृतिक आपदा है और न दैवीय विधान बल्कि विशुद्ध रूप से मानव जनित सोची - समझी चाल के तहत अपने लिए भीड़ जुटाना और इस्तेमाल करना है जिसमें एक या एकाधिक निर्दोष लोग अकारण हताहत हो जाते हैं। मॉब लिंचिंग जिसको हिन्दी में भीड़ हत्या या हत्यारी भीड़ कह सकते हैं, का उद्भव परोक्षत: मानव के विकास के साथ ही हुआ था किन्तु इसे मॉब लिंचिंग का नाम मिला चार्ल्सलिंच या विलियम लिंच के लिंच कानून से प्रभावित होकर अमेरिकी सिविल वार के साथ जिसमें प्राय: अश्वेतों पर कोई भी आरोप लगाकर बिना कोई अवसर दिए भीड़ बनाकर मार डाला जाता था और आज भी हमारी आजादी के सात दशकों के बाद यह ज़ारी है।

हमारे देश की बुनियाद विश्व बंधुत्व, वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्व धर्म समभाव एवं अहिंसा परमो धर्म: की पावन व कल्याणकारी अवधारणा पर आधारित है जो हजार सालों के बाहरी अत्याचार एवं विविध अवसरवादी संहिताओं, संविदाओं व संविधान के साथ भी कायम है।

हमारे संविधान में जीवन का अधिकार मौलिक अधिकार है। इसके सम्बंध में अनुच्छेद - 21 में लिखा गया है कि, 'किसी व्यक्ति को, उसके प्राण या दैहिक स्वतन्त्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं। इतने स्पष्ट कानून के बाद भी यह छद्म व्यवस्था आज तक मरी नहीं है।

ज्वलन्त सवाल यह है कि कौन है इसका जिम्मेदार? इसके लिए प्रमुख बिन्दु निम्नवत हैं-

1) अपरिपक्व जनतन्त्र जो भीड़तन्त्र से ऊपर न उठ सका हो,
2) कमजोर कानून जो लोगों को उचित व्यवस्था का भरोसा न दिला सके,
3) अपराधियों की सोची - समझी चाल,
4) उचित और अनुचित में भेद कर सकने की क्षमता का अभाव,
5) मनोरोग का प्रभाव जिसके कारण अव्यवस्था में संतुष्ट होना,
6) विलम्बित न्याय प्रक्रिया के प्रति क्षोभ,
7) अपने पक्ष में न्याय न मिल पाने का पूर्वाग्रह,
8) अपराध करके सजा न पाने के प्रति आश्वस्त,
9) असुरक्षित सोसल मीडिया जो प्रचार - प्रसार के लिए सर्वसुलभ है, और
10) भीड़ की अनियन्त्रित शक्ति जो उस वक्त सर्वशक्तिमान निर्णायक बन जाती है।

ये ऐसे व्यक्ति या कारण होते हैं जिनके द्वारा त्वरित भीड़ इकट्ठी होती है जो बिना वास्तविकता को जाने, बिना जानने की कोशिश किए कानून को अपने हाथ में लेकर मौत का तांडव खेलती है। प्राय: यह पाया गया है कि शान्ति के उपरान्त जब सच्चाई सामने आती है तो वह बिल्कुल उल्टी होती है और यह जानकर उसमें शामिल लोग पछताते हैं, ...और कर भी क्या सकते हैं!

इस जटिल समस्या का समाधान आसान तो नहीं पर अत्यावश्यक है। इसके लिए युद्धस्तर पर समवेत प्रयास की जरूरत है क्योंकि इसमें जीवन के अधिकार का हनन है। केन्द्र सरकार सिर्फ यह कहकर पल्ला नहीं झाड़ सकती कि यह विषय राज्य के अधीन होता है बल्कि दायित्व लेकर कठोर कानून बनाना पड़ेगा। राज्य सरकार को इसे गम्भीरता से लेना पड़ेगा और जरूरत पड़ने पर अन्तरराज्यीय प्रयास किया जाना

चाहिए। स्थानीय प्रशासन को भी पहले से अधिक सचेत रहने की जरूरत है और इसके साथ ही हर नागरिक का परम दायित्व है कि किसी भी रूप में प्रत्यक्ष या परोक्ष मॉब लिंचिंग में खुद को शामिल न होने दें और इस तरह के किसी भी योजना का पता चले तो तुरन्त स्थानीय प्रशासन को सूचित करें तथा अन्य लोगों को भी उचित भूमिका के लिए प्रोत्साहित करें। इससे अतीत में हुए नुकसान का हवाला देते हुए पुन: न दोहराये जाने की अपील करें।

यद्यपि इतने प्रयासों से काबू पाया जा सकता है तथापि यदि ऐसी कोई भी दुर्घटना घटित हो ही जाती है तो पूर्णत: जाँच की जानी चाहिए और दोषियों को कठोर सजा का प्रावधान करना चाहिए ताकि भविष्य में ऐसी कोई भी घटना की सम्भावना न रहे। मानवता और देशहित में इस महामारी का समूल नाश होना ही चाहिए।

अवधेश कुमार 'अवध'
मो० नं० 8787573644
(Mr. Awadhesh Kumar)
Engineer, Plant
Max Cement, GVIL
4th Floor, LB Plaza
GS Road, Bhagavath
Guwahati -781005 (Assam)
awadhesh.gvil@gmail.com

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

वैश्विक तापमान कारण और निवारण

-मनीषा जोबन देसाई
सूरत -गुजरात -इण्डिया

सदियों से तपती इस धरा पर जाने कितने अत्याचार और बदलाव आये है।वैसे तो कुदरत से मिली हरेक सम्पति से वो भरपूर है,लेकिन मानवजाती ने खुद को और अपनी आनेवाली पीढी को ब्रह्मांड में एक नयी पहचान देने की जब से ठान ली हैऔर इसके लिए जाने कितने ही आविष्कारों से धरती को सजायें जा रहे है।क़ुदरत की अखुट संपत्ति से लबरेज़ हरियाली धरती अब कहीं कहीं से बंज़र दिखती जा रही है।अपने आपको विश्वमानव बनाने की धुन थी तब तक तो ठीक था,लेकिन वहाँ से ओर ऊपर उठकर अवकाश में भी अपनी जगा बनाकर सब से ताकतवर बनने की होड़ लगी है।औद्योगिक क्रान्ति तो मानवजात के उज्जवल भविष्य के लिए बहुत ही आवकारदायक कदम है लेकिन केमिकल के उपयोग से दूषित पानी की समस्या और समुद्रजीवो के निकंदन से जैविक संतुलन बिगड़ रहा है।

सरकार के द्वारा क़ानून बनाकर ठोस कदम उठाये गए है, लेकिन अपनी महत्वकांक्षाओ को "स्काय इस घ लिमिट "समजनेवाले ग्लोबल विकासी कहीं रुकने को तैयार नहीं।कन्स्ट्रक्शन इंन्डस्ट्री में भी काफी पे ैबंदिया लगाने के बावजूद बेफाम बढ़ती बहुमाली इमारतों की वजह से महानगरों में काफी दिक्कतों का सामना कर रहे लोग।जैसे न्यूयॉर्क में कभी ऐसा भी हुआ था की ऊँची इमारते बनने लगी और आमने सामने स्ट्रीट बन गयी तो कम गेप छोड़ने की वजह से अन्धेरा रहने लगा और फिर नियम बनाये गए ,उसी के मुताबिक़ डेवलोपमेन्ट बढ़ाया जा रहा है लेकिन अब भी जैसे जैसे डेवलोपमेन्ट बढ़ा मार्किट एरिया और रहेने की पुरानी जगाओ पर वही समस्याए खड़ी हे। जैसे ट्राफिक की वजह से कितने मानवसमय का क्षय हो रहा है और मेरे ख्याल से जल्दी पहुंचने की दौड में जो आविष्कार किये गए उस के बावजूद वहीं के वहीं रहे जा रहे है।टेक्नोलोजी -मोबाईल-कमप्युटर उद्योगों का धुंआ और पेट्रोल डीज़ल का प्रदुषण दोनों मानवजीवन की शारीरिक क्षमता को क्षीण कर रहे है।समजदार देश भी अपनी ताकत दिखाने के लिये अणुपरिक्षण का मोह छोड नहीं रहें।

खुले वातवरण से मिलनेवाली शुद्ध हवा जैसे महानगरों में एक याद बन गयी है।दूषीत पानी और दूषीत हवा से कितनी भयंकर बीमारियों का शिकार बन रहा हे मानवी।वैसे तो सरेराश आयु बढ़ी है मेडिकल संशोधन के कारण,लेकिन फिर भी समस्याएं कम नहीं हुई।सो साल जीने की तमन्ना करने वाला इंसान एक के बाद एक समस्याओ से ज़ुज़ रहा है, ग्लोबल वॉर्मिंग की वजह जंगलो का काटना,और प्लास्टिक का ज्यादा उपयोग होने की वजह से "ओज़ोन "लेयर में ब्लेक हॉल का विस्तार बढ़ा जिसकी वजह से सूरज की तेज रेडियन किरणे बढ़ने लगी,जो स्किन कैंसर वगैराह बढ़ने का मुख्य कारण है। ये तो सब समस्याए है,लेकिन उसका उपाय भी वही बुद्धिजीवियों को ढूंढना होगा जिन्होंने ये सब खड़ा किया है,नयी पिढी को इस समस्या से अवगत कराके उन्हें कुदरत से ज्यादा नजदीक रहने से लिए सामाजिक जागृति अभियान और हमारे गाँवों में भी जिस तरह से आधुनिकरण हो रहा है वहाँ पर वर्कशॉप करके और स्कूल के विद्यार्थी और शिक्षकों द्वारा ज्ञानजाग्रुति अभियान चलायें तभी सब आनेवाली पीढ़ी के लिए पानी,हरियाली शुद्ध हवा और हमारे जरुरी खनिज वगैराह बचा सकेंगे।सिर्फ हमारी सरकार के प्रयत्न ही नहीं सभी को खुद समज़कर अपने पैरो पर कुल्हाड़ी मारना बंध करना चाहिए।

"जय ग्लोबल विश्व"
जब सब अच्छे से जियेंगे तभी तो जीवन आगे बढ़ेगा।

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

साइबर हैकिंग

जुनैद मलिक अत्तारी
नई दिल्ली

पिछले कुछ सालों से दुनिया भर में साइबर अपराध बढ़े हैं. आपके खाते हैक हो रहे हैं. आपके कंप्यूटर पर हमले हो रहे हैं. आपकी डिजिटल जानकारियां चुराई जा रही हैं.अक्सर साइबर अपराधी देश की अहम साइबर संपत्तियों को निशाना बनाते हैं. पिछले कुछ समय पहले रैनसमवेयर पर हमला हुआ.इसे अंजाम देने वाले अपराधी हफ़्ता वसूली जैसे प्रोटेक्शन मनी मांग रहे थे. तो, क्या वाक़ई साइबर अपराधी इतने शातिर, इतने ख़तरनाक होते हैं?जब भी बड़े या छोटे साइबर अटैक होते हैं, तो हमें बताया जाता है कि इसे अंजाम देने वालों ने कितने पेचीदा और सुरक्षित नेटवर्क को निशाना बनाया है.हमारी डिजिटल सुरक्षा कमज़ोर हो गई है. मगर जानकार कहते हैं कि साइबर अपराधी भी आम अपराधियों जैसे ही होते हैं. वो आलसी होते हैं. फटाफट पैसे कमाना चाहते हैं.साइबर अपराधी वो हमारी कमज़ोरियों का फ़ायदा उठाते हैं. वो मौक़ा देखकर हमारी साइबर संपत्तियों को निशाना बनाते हैं.वो आम अपराधियों की तरह सिर्फ़ उन मौक़ों की तलाश में रहते हैं, जब हम अपनी सुरक्षा को लेकर थोड़े लापरवाह होते हैं. बस मौक़ा देखा और हाथ मारा!साइबर अपराधियों के ख़िलाफ़ काम करने वाली यूरोपीय संस्था यूरोपोल कहती है कि दुनिया भर में डिजिटल जुर्म बढ़ रहे हैं. वो रैनसमवेयर के ज़रिए उगाही कर रहे हैं.हैकिंग के ज़रिए हमारे डेटा को चुरा रहे हैं. गैरकानूनी तरीक़े से वेब अंडरवर्ल्ड में साइबर संपत्तियां बेच रहे हैं.यह अपराधी अक्सर तेज़ तर्रार युवाओं को इस काम के लिए इस्तेमाल करते हैं. ये आपके खाते से सारी जानकारी चुरा लेते हैं, रूसी हैकिंग की जांच

तकनीकी जानकारी ब्रिटेन की सरे यूनिवर्सिटी के साइबर एक्सपर्ट एलन कहते हैं कि साइबर अपराधी असल में हमारे सुरक्षा के इंतज़ामों को चुनौती देते हैं.वो हमें चिढ़ाते हैं कि देखो तुम्हारी साइबर सुरक्षा कितनी कमज़ोर है. बहुत से परंपरागत अपराधी अब डिजिटल जुर्म की दुनिया में दिलचस्पी लेने लगे हैं.एलन वुडवर्ड कहते हैं कि इन अपराधियों को तकनीकी जानकारी होती नहीं. इसलिए वो युवाओं को पैसे का लालच देकर अपने साथ जोड़ते हैं.ब्रिटेन की नेशनल क्राइम एजेंसी के आंकड़े बताते हैं कि हैकिंग करने वालों की औसत उम्र क़रीब 17 बरस होती है. यह वेबसाइट पर हमला करके उनके चेहरे बिगाड़ते हैं.डेटा चुराते हैं. निजी कंप्यूटरों को निशाना बनाते हैं. आज पूरी दुनिया इंटरनेट और वर्ल्ड वाइड वेब के ज़रिए एक दूसरे से जुड़ गई है. पर सुरक्षा के इंतज़ाम बेहद कमज़ोर हैं.

इसी वजह से साइबर अपराध दिनों-दिन बढ़ रहे हैं. एलन वुडवर्ड कहते हैं कि अक्सर हम अपने लालच की वजह से हैकर्स का निशाना बनते हैं.डिजिटल माफिया वो स्पैम मेल के ज़रिए धोखे के जाल में फंसते हैं. अक्सर साइबर अपराधी लोगों को लालच देते हैं कि फलां लिंक पर क्लिक करने से उनके खातों में लाखों रुपए आ जाएंगे.बस, लालच में आपने वो मेल खोला नहीं कि आप हो गए साइबर हमले के शिकार. कई बार कुछ ख़ास चीज़ों का लालच हमें डिजिटल माफिया का शिकार बनाता है.

जैसे कि आप अच्छी तरह से जानते हैं कि ओसामा बिन लादेन की मौत के बाद फ़ेसबुक इस्तेमाल करने वालों के पास एक लिंक आया था.लिंक में ये कहा गया था कि उस पर लिंक करने पर ओसामा के आख़िरी पलों का विडियो देखने को मिलेंगा,

मगर असल में वो एक वायरस था, जो लोगों के डेटा चोरी कर रहा था. कुल मिलाकर ये साइबर अपराधी आम मुजरिमों जैसे होते हैं.

जो ज़्यादा मेहनत किए बग़ैर ज़्यादा से ज़्यादा पैसे कमाना चाहते हैं. इनके पास तकनीक की ज़्यादा

जानकारी नहीं होती. और अब तो ऐसे ज़्यादातर अपराधी पकड़े जा रहे हैं.

वैसे एलन वुडवर्ड कहते हैं कि कुछ लोग ऐसे हैं जो बेहद शातिर हैकर हैं. उन्हें तकनीक की ज़बरदस्त जानकारी होती है.

मगर ऐसे ज़्यादातर लोग सरकारी एजेंसियों के लिए काम करते हैं. वुडवर्ड कहते हैं कि अपराधी चालाक होते हैं और आलसी भी. पहले वो बंदूकों के ज़रिए जुर्म करते थे.आज वो वायरस से हमले करते हैं. बस आप उनकी तरफ़ से आए लालच के लॉलीपॉप के जाल में न फंसें.आज साइबर अपराधियों का साम्राज्य इतना फैल गया है कि ये धंधा अरबों-ख़रबों डॉलर का हो गया है. हैकर्स आज सरकारों के लिए भी काम कर रहे हैं और भाड़े पर भी. ये बैंकों और सरकारी वेबसाइटों से लेकर निजी कंप्यूटरों और मोबाइल तक को निशाना बना रहे हैं.इन्हें कई देशों में सरकारें ट्रेनिंग दे रही हैं, ताकि दुश्मन देशों को निशाना बना सकें. तो, ईरान जैसे कई देश इन्हें भाड़े पर रखकर विरोध की आवाज़ दबा रहे हैं. साइबर अंडरवर्ल्ड आज ख़ूब फल-फूल रहा है.आपको जानकर हैरानी होगी कि एक देश ऐसा है, जहां की साइबर हैकिंग सेना पूरी तरह से सरकारी है. इस देश का नाम है उत्तर कोरिया.उत्तर कोरिया में हैकर्स की सेना को चलाती है वहां की ख़ुफ़िया एजेंसी आरजीबी. उत्तर कोरिया में 13-14 साल की उम्र से ही बच्चों को हैकिंग के लिए ट्रेनिंग दी जाने लगती है. स्कूलों से ही प्रतिभाशाली बच्चों को छांटकर हैकिंग की ख़ुफ़िया सेना में दाख़िल कर दिया जाता है.गणित और इंजीनियरिंग में तेज़ छात्रों को सॉफ्टवेयर इंजीनियरिंग की ट्रेनिंग दी जाती है. फिर या तो वो हैकर बनते हैं या सॉफ्टवेयर इंजीनियर. संसाधनों की कमी की वजह से उत्तर कोरिया में बच्चे पहले काग़ज़ के की-बोर्ड पर अभ्यास करते हैं. जो तेज़-तर्रार होते हैं, बाद में उन्हें कंप्यूटर मुहैया कराया जाता है.उत्तर कोरिया अपने यहां के बहुत से छात्रों को चीन या दूसरे एशियाई देशों में आईटी की पढ़ाई करने के लिए भेजता है, ताकि वो साइबर दुनिया को अच्छे से समझ सकें और देश के काम आ सकें.इनमें से कई छात्र पढ़ाई पूरी करके चीन या दूसरे देशों में ही रुक जाते हैं और वहीं से अपने देश के लिए हैकिंग का काम करते हैं. उनका मक़सद कमाई करके अपने देश को पैसे भेजना होता है.यह उत्तर कोरियाई हैकर्स 80 हज़ार से एक लाख डॉलर लेकर फ्रीलांस हैकिंग करते हैं, ताकि अपने देश के लिए पैसे कमा सकें.

जानकार मानते हैं कि क़रीब 2-3 हज़ार उत्तर कोरिया हैकर फ्रीलांस का काम करते हैं, इनके निशाने पर क्रेडिट कार्ड, बैंक के खाते हुआ करते हैं, ताकि आसानी से कमाई हो सके.

उत्तर कोरिया के हैकर्स ने दुनिया के कई बैकों पर बड़े साइबर हमले करके करोड़ों की रक़म उड़ाई है. इनके निशाने पर लैटिन अमरीकी देश इक्वाडोर से लेकर पड़ोस के देश तक रहे हैं.

अब जब साइबर क्राइम बढ़ रहे हैं, तो ज़ाहिर है तमाम देशों ने साइबर सुरक्षा के लिए पुलिस बल भी तैयार किए हैं.

ईरान भी हैकिंग की दुनिया का एक बड़ा खिलाड़ी है. सन् 1990 के दशक में इंटरनेट के आने के साथ ही ईरान ने अपने यहां के लोगों को साइबर हमलों के लिए तैयार करना शुरू कर दिया था.

ईरान जैसे देशों में सोशल मीडिया, सरकार के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का बड़ा मंच होते हैं. सरकार इनकी निगरानी करती है. ईरान में हैकर्स का इस्तेमाल वहां की सरकार अपने ख़िलाफ़ बोलने वालों का मुंह बंद करने के लिए करती है.

सन् 2009 में जब ईरान में सरकार विरोधी प्रदर्शन तेज़ हो रहे थे. तब ईरान के सरकारी हैकर्स ने तमाम सोशल मीडिया अकाउंट हैक करके ये पता लगाया कि आख़िर इन आंदोलनों के पीछे कौन है. उन लोगों की शिनाख़्त होने के बाद उन्हें डराया-धमकाया और जेल में डाल दिया गया.यानी साइबर दुनिया की ताक़त से

ईरान की सरकार ने अपने ख़िलाफ़ तेज़ हो रहे बग़ावती सुर को शांत कर दिया था.ईरान के पास रूस जैसी

ताक़त वाली साइबर सेना तो नहीं है, मगर ये ट्विटर जैसे सोशल मीडिया को परेशान करने का माद्दा ज़रूर रखती है. जानकार बताते हैं कि ईरान की साइबर सेना को वहां के मशहूर रिवोल्यूशनरी गार्ड्स चलाते हैं.

ईरान में दुनिया के एक से एक क़ाबिल इंजीनियर और वैज्ञानिक तैयार होते हैं. दिक़्क़त ये है कि इनमें से ज़्यादातर पढ़ाई पूरी करने के बाद अमरीका या दूसरे पश्चिमी देशों का रुख़ करते हैं. तो, ईरान की साइबर सेना को बचे-खुचे लोगों से ही काम चलाना पड़ता है.

अमरीकी थिंक टैंक कार्नेगी एंडोमेंट के लिए काम करने वाले करीम कहते हैं कि ईरान तीसरे दर्जे की साइबर पावर है. अमरीका, रूस, चीन और इज़राइल, साइबर ताक़त के मामले में पहले पायदान पर आते हैं. यूरोपीय देशों की साइबर सेनाएं दूसरे नंबर पर आती हैं.ईरान अक्सर साइबर हमलों के निशाने पर रहता है. ख़ास तौर से अमरीका और इसराइल से. सन् 2012 में ईरान के तेल उद्योग पर हुए साइबर हमलों में उसके सिस्टम की हार्ड ड्राइव से डेटा उड़ा दिए गए थे. ईरान पर इस साइबर हमले के पीछे अमरीका या इसराइल का हाथ होने की आशंका थी.

ईरान ने इसी हमले से सबक़ लेते हुए तीन महीने बाद अपने दुश्मन सऊदी अरब पर बड़ा साइबर हमला किया. इस हमले में ईरान के हैकर्स ने सऊदी अरब के तीस हज़ार कंप्यूटरों के डेटा उड़ा दिए थे.आज हैकर्स ने अपने साम्राज्य को पूरी दुनिया में फैला लिया है. कमोबेश हर देश में हैकर मौजूद हैं. कहीं वो सरकार के लिए काम करते हैं, तो कहीं सरकार के ख़िलाफ़.90 के दशक में हॉलीवुड फ़िल्म मैट्रिक्स से प्रभावित होकर जिन रूसी साइबर इंजीनियरों ने हैकिंग के साम्राज्य की बुनियाद रखी थी, वो आज ख़ूब फल-फूल रहा है. आज बहुत से हैकर रूस की सरकार के लिए काम करते हैं.मगर, हैकिंग के इस खेल में रूस अकेला नहीं है. पूरी दुनिया में आज हैकरों ने अपना मकड़जाल फैला रखा है..

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

कवींद्र-रवींद्र और उनके विमर्श

कृष्ण कुमार यादव

भारतीय संस्कृति के शलाका पुरूषों में रवींद्रनाथ टैगोर का नाम प्रतिष्ठापरक रूप में अंकित है। वे एक ऐसे व्यक्तित्व थे, जो जीती-जागती किंवदंती बन गए। साहित्यकार-संगीतकार-लेखक-कवि-नाटककार-संस्कृतिकर्मी एवं भारतीय उपमहाद्वीप में साहित्य के एकमात्र नोबेल पुरस्कार विजेता के अलावा उनकी छवि एक प्रयोगधर्मी और मानवतावादी की भी है। तभी तो शब्द और संगीत के इस विलक्षण साधक के लिए पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि - श्बड़ा आदमी वह होता है जिसके संपर्क में आने वाले का अपना देवत्व जाग उठता है। रवींद्रनाथ ऐसे ही महान पुरूष थे। वे उन महापुरूषों में थे जिनकी वाणी किसी विशेष देश या संप्रदाय के लिए नहीं होती, बल्कि जो समूची मनुष्यता के उत्कर्ष के लिए सबको मार्ग बताती हुई दीपक की भाँति जलती रहती है।श् वाकई रवींद्रनाथ टैगोर को शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। उनकी रचनाधर्मिता का क्षितिज इतना विस्तृत है कि आज भी उनकी प्रासंगिकता जस-की-तस बरकरार है। कोई भी विधा उनकी लेखनी से अछूती नहीं रही। विभिन्न विधाओं में उन्होंने 141 पुस्तकें लिखीं, जो 27 खंडों में प्रकाशित हुईं। इनमें 15 काव्य-संकलन ;12,000 कविताएंद्ध, 11 गीत-संग्रह ;2000 गीतद्ध, 47 नाटक, 34 लेख-निबंध-अलोचना संग्रह, 13 उपन्यास, 12 कहानी-संग्रह, 6 यात्रा-वृतांत व 3 खण्डों में आत्मकथा शामिल हैं। रवींद्रनाथ की अधिकतर काव्य-रचनाएं 'गीत-वितान' व 'संचयिता' में संग्रहित हैं। यह एक अजीब संयोग है कि सभी विधाओं में समान अधिकार रखने वाले टैगोर को नोबेल पुरस्कार उनकी काव्य-कृति ष्गीतांजलिष् पर मिला और आज भी साहित्य का नोबेल पुरस्कार पाने वाले वे भारतीय उपमहाद्वीप के इकलौते साहित्यकार हैं।

रवींद्रनाथ टैगोर का जन्म 7 मई 1861 को बंगाल के जोरासांको में हुआ। वे एक ऐसे प्रतिष्ठित जमींदार परिवार से थे जिनकी योग्यता का डंका विदेशों में भी बजता था। तभी तो उनके दादा द्वारकानाथ ठाकुर की मौत पर लंदन के प्रतिष्ठित ष्द टाइम्सष् ने 3 अगस्त 1946 को लिखा कि- श् संभवतया भारत में द्वारकानाथ ठाकुर की टक्कर का कोई नहीं है, भले ही वह किसी पद या प्रतिष्ठा पर हो, जिसने अपने आस-पास खड़े लोगों की प्रगति और बेहतरी को इतनी उदारता से संरक्षण दिया हो। और हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि भारत व इंग्लैंड में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जो अपनी वर्तमान सफलता और स्वतंत्रता के लिए द्वारकानाथ ठाकुर के अनुग्रह के प्रति कृतज्ञ न हों।श् इससे द्वारकानाथ ठाकुर की प्रतिष्ठा के बारे में अंदाजा लगाया जा सकता है। अरबी व फारसी के इस विख्यात अध्येता ने रूढ़िवादी मानसिकता से परे हटकर नए मानदंड विकसित किए और ऐसे समय में समुद्री यात्राएं की जब हिन्दू धर्म इसकी आज्ञा नहीं देता था। द्वारकानाथ ठाकुर के सबसे बड़े पुत्र देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने मात्र 18 वर्ष की आयु में गंगा-तट पर अपनी मौत के लिए प्रतीक्षारत दादी के सान्निध्य में रहते हुए जीवन के सत्य की प्राप्ति कर ली थी और उसके बाद भौतिक चकाचैंध से दूर वे अध्यात्म की ओर उन्मुख हो गए। इसके बाद वे ष्महर्षिष् नाम से विख्यात हुए। ऐसे ही महर्षि-मनीषी द्वारकानाथ ठाकुर और माता शारदा देवी की 14वीं संतान के रूप में रवींद्रनाथ का जन्म हुआ। रवींद्रनाथ ने एक ऐसे परिवार में जन्म लिया जहाँ परंपराएं व संस्कार थे तो आधुनिकता भी थी। भौतिकता की चकाचैंध थी तो अध्यात्म का परिवेश था, तभी तो उनकी आठवीं तक की शिक्षा घर पर ही हुई और आगे की शिक्षा के लिए वे इंग्लैण्ड भेजे गए। प्राचीन वैदिक साहित्य के साथ ही पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव भी उनके खून में था। संगीत-कला-साहित्य की अनुगूंज वातावरण में सर्वत्र

विद्यमान थी, यूँ ही सात वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने जीवन की पहली कविता नहीं रच डाली। स्वयं रवींद्रनाथ टैगोर ने लिखा है कि-श्मेरा परिवार हिन्दू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता एवं ब्रिटिश सभ्यता की त्रिवेणी था।

रवींद्रनाथ टैगोर पर अपने परिवार की सामासिक संस्कृति का बचपन से ही गहरा प्रभाव पड़ा। सांवले चेहरे के बीच उनकी आँखें मानो हर पल कुछ ढँूढना चाहती थी। कुछ आत्म, कुछ परमात्म और इससे भी परे जीवन की विसंगतियों को देखकर विचलित होने का भाव। यही कारण है कि उनका विलक्षण व्यक्तित्व एकांगी नहीं बल्कि बहुआयामी रहा। एक साथ ही उन्होंने साहित्य, संगीत, चित्रकला, नाट्य, शिक्षा सभी में महारत हासिल की। रवीन्द्र सिर्फ विधाओं के ही यायावर नहीं थे बल्कि जीवन में भी यायावर थे। उन्होंने 13 बार विश्व भ्रमण किया। 'रवीन्द्र-संगीत' की गणना आज भी बंगाल की लोकप्रिय संगीत-शैलियों में होती है। रवींद्रनाथ के गीतों के अनुवाद जर्मनी फ्रांस, जापान, इटली आदि में किए गए हैं। इटली के कुछेक चित्रकारों ने तो उनके गीतों के आधार पर चित्र रचना तक की है। तभी तो कहते हैं कि रवींद्रनाथ जितना पढ़े गए हंै, उससे कहीं ज्यादा सुने गए हैं। खुद रवींद्रनाथ टैगोर ने ही एक बार कहा था-श् मैं निश्चित जानता हूँ कि भविष्य में मेरे कविता-कहानी-नाटक के साथ चाहे जो बीते, मेरे गीतांे को बंगाली समाज को ग्रहण करना ही होगा, मेरे गीत सबको गाने ही होंगे, बंगाल के घर-घर में सुदूर पथ पर, मैदानों में, नदी के तीर-तीर। मैंने देखा है मेरे गीत जैसे मेरे अचेतन मन से बरबस निकले हैं और इसीलिए उनमें एक संपूर्णता है।श् वाकई आज बंगाल में कोई भी अनुष्ठान या समारोह उनके गीतांे के बिना पूरा नहीं होता। उनके गीतों में माधुर्य भी है और ओज भी। यहाँ तक कि चासॅर के पूर्वजों की भांति उन्होंने अपने शब्दों को स्वयं संगीतबद्ध भी किया। नोबेल पुरस्कार विजेता आयरिश कवि डब्लयू0 वी0 यीट्स, जिन्होंने 'गीतांजलि' की भूमिका लिखी, ने दर्ज किया कि-"ये गीत-काव्य कितने भाव-प्रवण, लयात्मक और अत्यन्त विदग्धतापूर्ण हैं। उनमें रंग, मौलिकता और विचार की इतनी सूक्ष्मता है कि उनको अनुवाद में व्यक्त नहीं किया जा सकता.....ये सदियों से चली आ रही एक ऐसी परंपरा के प्रतीक हैं, जहाँ काव्य और धर्म एकरूप हैं।" आज भी टैगोर की रचनाओं के पुनर्वेषण के स्वतरू स्फूर्त प्रयास निरंतर चल रहे हैं। उनकी रचनाएं कल भी मनुष्य को झकझोरती थीं और आज भी झकझोर रही हैं। सत्यजीत रे जैसे दिग्गज फिल्मकार ने उनकी रचनाओं पर चारूलता, घरे बाहिरे व तीन कन्या जैसी शानदार फिल्में बनाई तो राजा, रक्तकरबी, विसर्जन, डाकघर जैसी नाट्यकृतियों का मंचन आज भी उतना ही प्रासंगिक दिखाई देता है। यहाँ तक कि अपने रंग-जीवन के अंतिम वर्षों में हबीब तनवीर जैसे विख्यात निर्देशक ने भी प्राजरक्तष् नाम से टैगोर के नाटक ष्विर्सजनष् की मंच प्रस्तुत की और उसे आरंभिक प्रदर्शन के बाद मांजते रहे। वाकई पीढ़ियों के अंतराल के बाद भी रवींद्रनाथ टैगोर की कृतियों का मंचन-संचयन यही दर्शाता है कि उनकी कृतियों की नई व्याख्याओं की गुंजाइश सदैव बनी रहेगी और वे अपनी प्रासंगिकता कभी नहीं खोएंगी। ऐसे में जो लोग रवींद्रनाथ टैगोर की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाते है, उन्हें भी रवींद्रनाथ के पक्ष में बहने वाली बयार चकित-विस्मित करती रहती हैं। अगर आज भी रवींद्रनाथ के गीतों-कविताओं को गायक-गायिकाएं सजा-सँवार रहे हैं, उनके नाटक नए सिरे से खेले जा रहे हैं, ष्काबुलीवालाष् और अन्य कहानियाँ लोगों के मर्म को छू रही हैं, ष्गोराष् जैसे उपन्यास नए विमर्श और पाठ के लिए उकसाते हैं, उनका बाल-साहित्य बहुतों का मन मोहता है, उनकी कृतियों को लेकर डाक-टिकट जारी हो रहे हंै तो यह मानना पड़ेगा कि टैगोर आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं एवं वे हर समय हमारे सम्मुख नित नए रूपों में अवतरित होते रहते हैं। यहाँ

टैगोर के बाल-साहित्य पर लिखे डब्लयू0 बी0 यीट्स के शब्द गौर करने लायक हैं-"वस्तुतः जब वह बच्चों के विषय में बातें करते हैं तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह संतांे के विषय में भी बात नहीं कर रहे हैं।"

एक जमींदार परिवार से होते हुए भी रवींद्रनाथ उदार दृष्टि के थे। 1891 में जब पहली बार वे जमींदार के रूप में शिलाईदह इलाके में गए तो बैठने के लिए की गई आसन व्यवस्था को हटाकर सभी के साथ समान स्तर पर बैठे। ग्राम-सुधार के वे प्रबल समर्थक रहे और किसानों के बीच रहकर स्वयं उन्होंने खेती की व उनके दर्द को महसूस किया। उनका कवि-मन जीवन की सहजता में विश्वास करता था। वे लोगों से घुलने-मिलने और उनकी जीवन-संस्कृति को समझने की कोशिश करते थे। फिर वह चाहे मुंडा आदिवासियों के मध्य रहकर उनकी संस्कृति को समझना हो, ग्राम हितैषी सभा के माध्यम से गाँवों में स्कूल, अस्पताल आदि की स्थापना हो, ग्राम संसद के तहत पंचायती राज को मूर्त रुप देना हो या नोबेल पुरस्कार में प्राप्त धन को शांतिनिकेतन को दान देकर उससे भारत के प्रथम कृषि बैंक की स्थापना हो। रवींद्रनाथ एक भविष्यदृष्टा थे। उनके कार्यो को इसी नजरिए से देखा जाना चाहिए। उनका जीवन इस बात को प्रतिबिंबित करता है कि मनुष्यता में उनकी अगाध आस्था थी। उन्होंने स्वर्ग-नरक से परे कहा कि देवता मंदिर में नहीं मनुष्यत्व में हैं। वे नारी-सशक्तिकरण के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने 'काव्ये उपेक्षिता' शीर्षक से एक बेहद धारदार निबंध लिखा, माना जाता है कि मैथिलीशरण गुप्त इस निबंध से इतने ज्यादा प्रभावित हुए कि उन्होंने साकेत, विष्णुप्रिया एवं यशोधरा जैसे अनुपम काव्य-ग्रंथों की रचना कर डाली और इनमें उपेक्षिता नारी को महिमामंडित कर उन्हें महत्वपूर्ण स्थान दिया। रवींद्रनाथ ने नारी-सशक्तीकरण, नारी शिक्षा, विधवा विवाह, दहेज प्रथा, बाल-विवाह, देवदासी इत्यादि को लेकर प्रखरता से कलम चलाई। रक्तकरबी, गोरा, श्यामा, चंडालिका, चोखेर-बाली, पुजारिनी, घरे बाइरे इत्यादि उनकी चर्चित रचनाओं को इसी क्रम में देखा जा सकता है। टैगोर की संवेदनाएं सिर्फ साहित्य-कला-संगीत तक ही सीमित नहीं थीं, वे उसे वास्तविकता के धरातल पर देखना चाहते थे। इसी कारण मानवीय गरिमा और और सम्मान के कवि रूप में वह सकल विश्व में विख्यात हैं। विज्ञान में वे विश्वास करते थे पर नैतिकता की कीमत पर नहीं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन के साथ उनकी मित्रता जगजाहिर है। संप्रदायवाद के विपरीत वे धर्मनिरपेक्षता के कायल थे। ईश्वर के संबंध में वे प्रभु-दास नहीं बल्कि प्रिय-प्रियतमा भाव की कल्पना करते थे। उनका मानना था कि-""मनुष्य को इच्छाशक्ति प्रदान करके ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता को सीमित कर दिया है। उसने किसी हद तक मनुष्य को स्वतंत्र कर दिया है और इस स्वातंन्य के क्षेत्र में ईश्वर अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। स्वाधीनता के क्षेत्र में प्रभु और दास सम्बंध नहीं, वरन प्रियतम के साथ प्रेमी का मिलन है। यहीं ईश्वर की सबसे महान अभिव्यक्ति है।"

रवीन्द्रनाथ टैगोर का शिक्षा पर बहुत जोर था। शिक्षा के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर वे उसे समग्र व्यक्तित्व-विकास से जोड़ना चाहते थे। उनके मत में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो हमारी भाषा और जीवन के साथ हमारे हृदय में उठने वाले भावों का भी ठीक तरह से उचित समन्वय कर सके। 1901 में स्थापित शांतिनिकेतन रवींद्रनाथ टैगोर जी के जीवन दर्शन उनके अद्भुत कार्यो और शिक्षा के क्षेत्र में उनके अनोखे माडल को प्रदर्शित करता है। एक तरह से देखा जाय तो शांति निकेतन भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में तपोवन परंपरा की वापसी और मानवीय विचारधारा के समावेश की बानगी पेश करता है। एक ऐसे समय में जब बंगाल ब्रिटिश शासन और जातपात का दंश झेल रहा था उस समय रवींद्रनाथ टैगोर जी ने धार्मिक

और क्षेत्रीय बाधाओं से परे शांतिनिकेतन नामक ऐसी शिक्षण संस्था का आधार तैयार किया जो मानवीयता, अन्तराष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्यों और मुक्त पाठ्यक्रम पर आधारित थी। गौरतलब है कि शांति निकेतन के हिंदू बहुल क्षेत्र में स्थित होने के बावजूद सौ वर्ष पहले वहाँ प्रत्येक पाँच में से तीन शिक्षक ईसाई थे और महिलाओं को भी शिक्षण कार्य में प्रोत्साहित किया जाता था। टैगोर ने आमिर-गरीब के साथ लिंगभेद को भी दूर करते हुए आम आदमी को शिक्षा से जोड़ने का प्रयास किया था। शान्तिनिकेतन की महत्ता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि स्थापना के दूसरे वर्ष में ही इस शिक्षण संस्था को जापान से पहला विदेशी छात्र मिला और बाद में वैदिक, पुराण, इस्लाम, बौद्ध, जैन इत्यादि सम्बंधित विषयों को पाठ्यक्रम में शामिल किया गया। यही नहीं टैगोर ने स्कूल के संबंधों को स्थानीय समुदाय से भी जोड़ने का प्रयास किया और संथाल समुदाय में शिक्षा को बढ़ावा देने पर जोर दिया। गौरतलब है कि मानवाधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र घोषणा, 1948 से पहले ही शांति निकेतन में अन्तराष्ट्रीय मानवीय मूल्यों की आधारशिला रखी गई और वहाँ पर्यावरण संरक्षण के साथ ही महिला सशक्तिकरण और समावेशी पहल पर जोर दिया गया।

रवींद्रनाथ टैगोर का स्वतंत्रता-आंदोलन में भी अप्रतिम योगदान रहा। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में वे प्राध्यापक रहे, अंग्रेजियत के ताने-बाने को काफी नजदीक से महसूस किया पर देश-प्रेम की उत्कट अभिलाषा उनके अंदर व्याप्त थी। जहाँ कांग्रेस के नेता व अन्य भाषणों द्वारा लोगों में देशभक्ति की भावना को उभार रहे थे, वहीं उनके क्रांतिधर्मी गीत लोगों की रगों में आजादी का जोश भर देते थे। उन्होंने गीत के माध्यम से आह्वान किया था-''जोदी तोर डाक शुने केउ ना आशे, तबे ऐकला चलो रे।'' 1905 के 'बंग-भंग' आंदोलन के दौरान हिन्दू-मुसलमानों द्वारा एक दूजे को राखी बाँधकर एकता का प्रदर्शन उनकी ही सोच थी। वे एक साथ ही क्रांतिकारी थे और उदारवादी भी। जलियांवाला बाग हत्याकांड के विरोध में नाइट हुड के तौर पर दी गई 'सर' उपाधि को लौटाने में उन्होंने कोई देरी न दिखाई। सरदार भगत सिंह जैसे क्रांतिकारी भी टैगोर की रचनाओं से प्रेरणा पाते थे। भगत सिंह ने अपनी जेल डायरी में टैगोर का एक लेख 'पूंजीवाद और उपभोक्तावाद' अपने हाथों से लिख रखा था। यही नहीं टैगोर की इस उक्ति को भी भगत सिंह ने दर्ज किया था कि ''जो न्यायधीश अपनी तजवीज की हुई सजा के दर्द को नहीं जानता, उसे सजा देने का हक नहीं।'' यह अनायास ही नहीं था कि काकोरी कांड में सजा काट रहे रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, रोशन लाल इत्यादि क्रांतिकारी 'सरफरोशी की तमन्ना' के साथ-साथ रवींद्रनाथ टैगोर व काजी नजरूल इस्लाम के क्रांतिधर्मी गीतों को गाकर वातावरण में देश-भक्ति का उन्माद फैलाते रहते। क्रांतिकारी मन्मथनाथ गुप्ता ने एक जगह लिखा है कि बैकुंठ शुक्ल को जब फांसी की सज़ा सुनायी गयी, तो उन्होंने सह-अभियुक्त सुकुमार बनर्जी से कहा- "दादा, रवि ठाकुर का वह गीत सुनाओ- 'मरण, हे मरण' वाला (अतो चुपि-चुपि केनो कथा कओ मरण, हे मरण-इतनी खामोशी से बातें क्यों करते हो, हे मरण!) और 'ओ आमार देशेर माटी, तोमार परे ठेकाई माथा, (ओ मेरे देश की माटी, तुम पर मैं माथा नवाता हूं)।इतिहास गवाह है कि रवींद्रनाथ टैगोर ने बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय द्वारा रचित राष्ट्र-गीत 'वन्दे मातरम' की धुन तैयार की और स्वयं 1896 के कांग्रेस अधिवेशन में इसे पहली बार गाया। राष्ट्रगान 'जन-गण-मन' के रचयिता भी टैगोर ही हैं। टैगोर को यह सौभाग्य प्राप्त है कि वे भारत और बांग्लादेश दो राष्ट्रों के राष्ट्रगान के रचयिता हैं।

रवींद्रनाथ टैगोर की मातृभाषा बांग्ला थी, पर हिन्दी साहित्य से भी उनका लगाव था। उनका मानना था कि- "साहित्य अर्थ में ही एक रहने का भाव है-

मानव के 'साथ' रहने का भाव है-मानव को स्पर्श करना, मानव को अनुभव करना। साहित्य के प्रभाव से हृदय-हृदय में शीत, ताप संचारित होता है, वायु प्रवाहित होती है, ऋतुचक्र घूमता है, गंध, गान और रूप की हाट लग जाती है। उद्देश्य न रहकर साहित्य से इस सहस्रों उद्देश्य साधित होते हैं। किशोर-वय से ही वे वाल्मीकि-कालिदास समेत भारतीय काव्यधारा की विशद परंपरा के साथ-साथ जयदेव, विद्यापति, कबीर और नानक की परंपरा से जुड़े। अपने समकालीन तमाम हिन्दी-साहित्यकारों से भी टैगोर का संपर्क बना रहा। वे खुद कहते थे कि-''मैं हिन्दी भाषी लोगों के निकट संपर्क में आने हेतु बेहद उत्सुक हूँ। यहाँ हम लोग संस्कृति-साहित्य प्रचार के लिए जो भी कुछ कर सकते हैं, कर रहे हैं। हमारी दिलीइच्छा है कि हिंदी भाषी लोग भी यहाँ आएँ, हमारे अनुभव में हिस्सा बटाएँ तथा अपने अनुभव से हमें भी लाभान्वित करें।'' आचार्य क्षितिमोहन सेन, पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्यकारों से उनका निरंतर संपर्क रहा और इनके माध्यम से उन्होंने हिन्दी साहित्य के मर्म को समझा। अज्ञेय व टैगोर की मुलाकात पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ही कराई थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन, पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय के साथ-साथ वे माखनलाल चतुर्वेदी व जैनेन्द्र से भी मुलाकात किए। टैगोर हिन्दी गद्य को समझने के लिए प्रेमचंद से मिलने को काफी उत्सुक थे, पर दोनों के मिलन का कोई संयोग अंत तक नहीं बन सका। इसे साहित्य की एक विडम्बना के रूप में ही माना जाएगा। उनकी दिली इच्छा थी कि साहित्य की भाषा कुछ भी हो, पर यदि वह लोगों की संवेदनाओं को झंकृत करता है तो अन्य भाषाओं में भी उसका अनुवाद होना चाहिए, ताकि लोग उससे लाभान्वित हो सकेंे। रवींद्रनाथ ने स्वयं कबीर, मीरा विद्यापति का बांग्ला में अनुवाद किया। कबीर की वाणी से तो वे इतने प्रभावित हुए कि उनकी रचनाओं का 'हंड्रेड पोएम्स आॅफ कबीर' शीर्षक से अंग्रेजी अनुवाद भी किया। 1917 में न्यूयार्क से मैकमिलन प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक की भूमिका अंग्रेजी साहित्य के विद्वान एवेल्वीन अंडरहिल ने लिखी। प्राच्य व पाश्चात्य साहित्य का यह सुन्दर व विलक्षण सम्मिलन था। पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पर लिखा कि- ''इसके माध्यम से रवींद्रनाथ टैगोर ने हिन्दी साहित्य को सिर्फ नवीन चिंतन की सामग्री ही नहीं दी बल्कि समस्त हिन्दी भाषी जनता को दप्त और तेजस्वी बना दिया।'' गौरतलब है कि इस पुस्तक में कबीर के पदों की एक पंक्ति रोमन लिपि में शीर्षक में दी गई है और उसके बाद पूरे पद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया है। रवींद्रनाथ टैगोर ने ये सौ पद आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा संकलित 'कबीर वाणी' से चुने थे। टैगोर ने बंगाल से बाहर की तमाम पराक्रमी विभूतियों पर भी कलम चलाई। उन्होंने बंदा बैरागी, गुरु गोविंद सिंह, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी इत्यादि को लेकर भी काव्य-रचनाएं की और 'पृथ्वीराज पराजय' जैसे नाटक लिखकर और शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक 'मैकबेथ' का बंगला में अनुवाद कर उन्हें बंगाली मानुस से जोड़ा।

साहित्य की विभिन्न विधाओं में हिन्दी की गौरवमयी परंपरा को टैगोर समग्र देश ही नहीं विश्व के सामने भी लाना चाहते थे। एक तरफ वे कबीर-वाणी को अंग्रेजी में अनुदित करते हैं तो दूसरी तरफ उन्हें बघेलखंड के कवि ज्ञानदास के पद भी प्रभावित करते हैं। टैगोर ने स्वयं लिखा कि-''ज्ञानदास की रचनाएं सुनकर मुझे अनुभव हुआ कि आजकल की आधुनिक कविता का परिचय इनकी कविताओं में मिलता है और ये कविताएं सर्वदा के लिए आधुनिक ही हैं।'' गीत-विधा पर टैगोर की जबरदस्त पकड़ थी। वे अन्य भाषाओं में रचित गीतों की संजीदगी से प्रभावित भी होते थे। हिन्दी साहित्य में गीतों की परंपरा पर उनका कथन उद्धृत करना उचित होगा-''इसमें कोई संशय नहीं है कि एक समय हिन्दी भाषा में गीत साहित्य का आविर्भाव हुआ है, उसके गले में अमरसभा का

वारमल्य है।'' पर इसके साथ ही वे सचेत भी करते हैं कि ''आज वह अनादर के कारण बहुत कुछ ढका हुआ है। इसका उद्धार अति-आवश्यक है, जिससे भारतवर्ष के अ-हिन्दी लोग भी भारत के इस चिरंतन साहित्य के उत्तराधिकार के गौरव के भागीदार हों।'' साहित्य की जीवंतता के लिए उसमें प्रवाह व सहजता का होना बेहद जरुरी है। यदि साहित्य में लचीलापन न हो तो उसके चटकने में देरी नहीं लगती। इसी प्रकार अलंकारों से परिपूर्ण साहित्य वर्ग-विशेष तक ही सीमित रह जाता है, जन-सरोकारों से वह कट जाता है। रवींद्रनाथ टैगोर भी साहित्य में अलंकारों की इस कृत्रिमता के पक्षधर नहीं थे। एक बार उन्होंने बिहारी की रचनाओं के बारे में कहा कि-''कुछ भी क्यों न हो, बिहारी सतसई जैसे ग्रंथ मेरे लिए रुचिकर सिद्ध नहीं हुए, विशेषकर किसी-किसी दोहे के चार-चार, पाँच-पाँच अर्थों के विषय में वाद-विवाह मुझे कुछ जंचा नहीं।'' वस्तुतः टैगोर कवित्व को साधना रुप में देखते थे। वह कहते थे कि मैं गीत गाने वाली चिड़िया जैसा हूँ, मेरा गीत कहीं बाहर नहीं बल्कि पत्तों के परदे में है, जहाँ बैठकर चिड़िया अनायास ही गाने लगती हैं। कवि साधना को वे आनंद का तीर्थ बताते थे। रसलोक में डूबा हुआ, विश्व देवता के मंदिर के इस आंगन में सर्वमानव का मिलन गान गाते हुए विश्व देवता की अर्चना करना। पर रवींद्रनाथ का देवता मंदिर में नहीं, मनुष्यत्व में है। वे मानवतावादी विचारधारा के प्रबल पोषक थे। हिन्दी साहित्य के छायावाद युग पर टैगोर का प्रभाव देखा जा सकता है। स्वयं महादेवी वर्मा ने अपने ग्रंथ 'पथ के साथी' में टैगोर को स्मरण करते हुए उनके प्रति अपने उद्गार व्यक्त किए हैं।

टैगोर हिन्दी-गद्य से भी प्रभावित थे और मूलतः इसके लचीलेपन से। जब उनके उपन्यास 'चोखेर बाली' का हिन्दी में 'आँख की किरकिरी' शीर्षक से अनुवाद हुआ तो भाषा की सहजता व लचीलापन देखकर वे काफी मुदित हुए। रवींद्रनाथ टैगोर की तमाम कृतियों के हिन्दी अनुवाद हुए। नोबेल पुरस्कार विजेता होने के कारण 'गीतांजलि' के तो हिन्दी में कई अनुवाद हुए। अज्ञेय ने 'गोरा' तो इलाचंद्र जोशी ने 'योगायोग' का हिन्दी अनुवाद किया। इसके अलावा अमृत राय व भारतभूषण अग्रवाल जैसे तमाम हिन्दी-साहित्यकारों ने टैगोर की कृतियों को हिन्दी में अनुवाद कर प्रस्तुत किया। रवींद्रनाथ, गाँधी जी के अनन्य मित्रों में से थे। गाँधी जी के ही आग्रह पर 1920 में भावनगर ;गुजरातद्ध में आयोजित छठे गुजराती साहित्य परिषद की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने अपने जीवन का प्रथम भाषण हिन्दी में दिया। इस भाषण के प्रारंभिक वाक्य गौरतलब हंै- ''आपकी सेवा में खड़ा होकर विदेशीय भाषा कहूँ, यह हम चाहते नहीं। पर जिस प्रांत में मेरा घर है, वहाँ सभा में कहने लायक हिन्दी का व्यवहार है नहीं। महात्मा गाँधी महाराज की भी आज्ञा है हिन्दी में कहने के लिए। यदि हम समर्थ होता तब इससे बड़ा आनंद और कुछ होता नहीं। असमर्थ होने पर भी आपकी सेवा में मैं दो-चार बात हिन्दी में बोलूँगा।'' इससे टैगोर की हिन्दी के प्रति भावना समझी जा सकती है। यद्यपि वे हिन्दी समझ-बोल लेते थे, पर उच्चारण में जरूर अटकते थे। आने वाली पीढ़ियों को वे बांग्ला भाषा के साथ-साथ हिन्दी में भी समृद्ध देखना चाहते थे और 1937 में शांति-निकेतन में 'हिन्दी भवन' की स्थापना कर टैगोर ने इसी परंपरा को पल्लवित-पुष्पित किया।

रवींद्रनाथ टैगोर (7 मई 1861-8 अगस्त 1941) की प्रतिभा किसी देश-काल की मोहताज नहीं थी। उन्होंने भारतीय साहित्य की समृद्ध परंपरा को इसकी उँचाईयों तक पहुँचाया और अंग्रेजी भारत में रहते हुए भी साहित्य का प्रतिष्ठित नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर न सिर्फ स्वतंत्र-चेतना का उद्गार किया बल्कि पराधीन भारत के आहत स्वाभिमान को एक बार फिर गर्व से अपना सिर उठाने का अवसर दिया। यह सोचने वाली बात है कि

अगर बीसवीं शताब्दी के शुरू में बांग्ला जैसी प्रांतीय भाषा में एक ऐसा विश्वस्तरीय साहित्यकार हो सकता था जिसने साहित्य का सर्वोच्च सम्मान अर्जित कर नए प्रतिमान गढ़ें हों, तो यह भारत की भाषिक बहुलता और भारतीय भाषाओं की जीवंत ऊर्जा को रेखांकित करता है। एक तरफ वे प्रकृति और उसके रहस्य का गीत गाते हैं तो वहीं उनके साहित्य में मानव जीवन की बुनियादी चिंतायें भी है। अनेक मामलों में उनकी समझ अपने युग के सभी विचारकों, आलोचकों, रचनाकारों और कला मनीषियों के विचारों की सीमाओं को भेदती हुई मनुष्यत्व के मर्म तक गयी है। धर्म, शिक्षा, राष्ट्र, अध्यात्म, मानवतावाद, सार्वभौम मनुष्य इत्यादि को लेकर उनके विचारों की आज देश-दुनिया में विशेष प्रासंगिकता है और बदलते परिप्रेक्ष में भी उन पर व्यापक पुनर्विचार और उसके प्रचार की आवश्यकता है। 7 मई 1918 को टैगोर की 157 वीं जयंती मनाई जायेगी और यदि टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिलने के लगभग एक सदी के पश्चात भी भारतीय उपमहाद्वीप में किसी साहित्यकार को यह खिताब नहीं मिला तो यह स्वयं में टैगोर की प्रासंगिकता को कायम रखती है।

कृष्ण कुमार यादव,
निदेशक डाक सेवाएँ,
राजस्थान पश्चिमी क्षेत्र, **जोधपुर -342001**
मो0- 09413666599

मुक्तिबोध : काव्य भाषा के शिल्पकार

डॉ. संजय प्रसाद श्रीवास्तव
जूनियर रिसोर्स पर्सन/लेक्चरर ग्रेड (हिंदी)
राष्ट्रीय परीक्षण सेवा-भारत
भारतीय भाषा संस्थान, मानसगंगोत्री,
मैसूर-570006, कर्नाटक

भाषा का मूल संबंध कवि के अंतःकरण से होता है। भाषा को युग बोध की संवाहक के रूप में भी देखा जाता है। कवि अपने युग के भावों, विचारों और समस्याओं को अपने काव्य में उतार देता है। मुक्तिबोधके अनुसार **"कवि भाषा का निर्माण करता है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्संदेह महान होता है।"**[xxiv]

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' हिंदी के सशक्त हस्ताक्षर है। आपका जन्म 13 नवंबर 1917 ई. को मध्यप्रदेश के मुरैना जिले के श्योपुर नामक स्थान पर हुआ था। सन् 1964 में लंबी बीमारी के बाद उनका स्वर्गवास हो गया। आपने कुछ समय तक 'हंस' पत्रिका का भी संपादन किया। आपने 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'भूरी-भूरी खाक धूल', 'काठ का सपना', 'विपात्र', 'आत्माख्यान', 'नई कविता का आत्म संघर्ष', 'उर्वशी दर्शन और काव्य, नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, 'कामायनी : एक पुनर्विचार' आदि काव्य संकलन एवं पुस्तकों की रचना की। आपकी संपूर्ण साहित्य में जनजीवन की घुटन को महसूस किया जा सकता है। मुक्तिबोध की काव्य यात्रा छायावाद से प्रारंभ होकर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता से होते हुए अपने काव्य में भाषा और शिल्प को एक नया रूप प्रदान किया है। मुक्तिबोध ने अपने काव्य में विशिष्ट प्रकार के प्रतीक, बिंब, अलंकार, विविधतापूर्ण शब्दों का प्रयोग मुहावरे-लोकोक्तियों तथा छंदों को कविता में स्थान दिया है। मुक्तिबोध ने कल्पना से भी विचित्र सच का साक्षात्कार फैंटेसी के द्वारा किया है। हिंदी साहित्य में फैंटेसी के रूप में मुक्तिबोध ने अपनी एक विशिष्ट की पहचान बनाई है।

"मैं विचरण करता-सा हूँ एक फैंटेसी में। यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।"[xxv]

अतः मुक्तिबोध का कहना था कि यथार्थ की कलात्मक परिणति फैंटेसी में ही निहित होती है। डायरी में मुक्तिबोध लिखते है, 'कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया का परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।'

आगे मुक्तिबोध लिखते है कि **"कलाकार को शब्द साधना द्वारा नये-नये भाव और नये अर्थ स्वप्न मिलते है।"**[xxvi]

मुक्तिबोध की काव्य भाषा में विभिन्न शब्दावली का मिश्रित रूप देखने को मिलती है। मुक्तिबोध की कविता में तत्सम, तद्भव, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे—

"कोलाहल करत सगर्व उद्धत मजदूरों का जुलूस"
"रेफ्रीजरेटरों, विटामिनों, रेडियो ग्रामों के बाहर की/मैं कनफटा हूँ हेठा हूँ। शेव्रलेट-डाज के नीचे लेटा हूँ"

उपर्युक्त पंक्ति में अरबी और अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया गया है।

मुक्तिबोध की कविता में सांसारिक बिंब अधिक मिलते है। उनकी कविताओं में एक रहस्यमय व्यक्ति का चित्रण मिल जाता है।

"जिंदगी के...../कमरों में अँधेरे/लगता है चक्कर/कोई एक लगातार/.....इतने में अकस्मात् गिरते हैं भीतर से/फूले हुए पलिस्तर/गिरती है चूने भरी रेत/सिसकती है पपड़ियाँ इस तरह/खुद-ब-खुद/कोई बड़ा चेहरा बन जाता है।"[xxvii]

"कि इतने में, इतने में/झलक-झलक उठती है/जल अन्तर में से ही

कठोर मुख आकृतियाँ/भयावने चेहरे कुछ, लहरों के नीचे से"[xxviii]

"भव्य ललाट की नासिका में से/ बह रहा खून न जाने कब से/

लाल-लाल गरमीला एक रक्त टपकता/(खून के धब्बों से भरा अंगरखा)।"[xxix]

मुक्तिबोध की भाषा में मुहावरों का प्रयोग मिलता है। उन्होंने अपने काव्य में मुहावरों को स्वतः ही गढ़ कर प्रयोग किया है। वे मुहावरों के द्वारा अपनी बात को स्पष्ट रूप से रखते है। कवि अशोक बाजपेयी कहते है कि "वे एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने हमारे समय को उसकी भयावह व्यापकता और गहराई में परिभाषित करने की कोशिश की है। उनके मुहावरें में बिम्बधर्मिता, सपाटबयानी उत्सवधर्मिता, विश्लेषण, बातचीत, रिटारिक, विनोदप्रियता आदि अनेक तत्वों का अद्भुत और जटिल संयोजन संभव हुआ है।....."[xxx] साथ ही कविता को सशक्त रूप भी प्रदान करते है। कुछ उनके द्वारा प्रयोग किए गए मुहावरे इस प्रकार है—'जिंदगी के झोल', 'जीतोड़ मेहनतकश', 'गुल करना', 'दांत किटकिटाना', 'सिर फिरना', 'केंचुली उतारना', 'जमाना सख्त होना', 'अपना गणित करना', 'सच्चाई की आँख निकालना', 'मन टटोलना' आदि।

मुक्तिबोध ने अपने काव्य को सशक्त बनाने के लिए अलंकारों का भी प्रयोग किया है। उनके प्रारंभिक रचनाओं में मानवीकरण का प्रयोग हुआ है।

"घबराए हुए प्रतीक और मुस्कुराते रूप चित्रण लेकर मैं/घर लौटता हूँ/उपमाएँ द्वार पर आते ही कहती है/कितने बरस तुम्हें और जीना ही चाहिए।"[xxxi]

मुक्तिबोध कृत 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में **"चाँदनी का स्थान-स्थान पर मानवीकरण किया गया है। कहीं वह हंसती है, रोती है, जीती है, मरती है, या फिर धाराशाही चाँदनी के होंठ काले पड़ गए।"**[xxxii]

श्रीकांत वर्मा का आरोप है कि **"मुक्तिबोध ने काव्य के संगीत के मूल्यों का संहार किया, भाषा का संहार किया तथा शब्दों को अर्थहीन और अर्थ को शब्दहीन बना दिया।"**[xxxiii]

कुँवर नारायण ने मुक्तिबोध पर लिखा है कि, **"मुक्तिबोध का कथ्य या संदेश जितना स्पष्ट और सीधा है उनकी कविताओं की बनावट उतनी ही जटिल और उलझी हुई है, वे सहज बोधगम्य नहीं है।"**[xxxiv]

अतः कथ्य की विविधता के कारण हिंदी साहित्य में आलोचक वर्गों ने उन्हें 'दुरूह', 'अस्पष्ट', 'न समझ में आनेवाला कवि' कहा है।

मुक्तिबोध की मातृभाषा मराठी थी लेकिन उनकी संपूर्ण काव्य भाषा हिंदी में है। उन्होंने भाषा के अभिजात्य को ध्वंश किया। साथ ही उन्होंने अंग्रेजी, उर्दू, मराठी तथा तत्सम्, तद्भव एवं देशज शब्दों के सहारे अपनी काव्य यात्रा को आगे बढ़ाया।

मुक्तिबोध की भाषिक कुशलता और रौद्र-सौंदर्य को 'चंबल की घाटियाँ' कविता की पंक्तियों में देखा जा सकता है।

"कटें, उठे पठारों का, दरों का
धँसानों का बयाबान इलाका। गुँजान रात।
अजनबी हवाओं की तेज मार-धाड़।
बरगदों बबूलों को तोड़-ताड़-फोड़
गगन में अड़े हुए पहाड़ों से छेड़छाड़
नहीं कोई आड़।"

मुक्तिबोध ने अपने काव्य को मुक्तछंद में रचा है। कवि शमशेर बहादुर सिंह ने उनके मुक्तछंद के काव्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते है कि "जो निराला के मुक्त छंदों से हाथ मिलाकर आगे आता है, वही सीधी अभिव्यक्ति, तरल मानवीय व्यंजना, मगर उससे अधिक भी कुछ निरालापन के साथ मुक्तिबोधपन। सबके साथ यद्यपि विशिष्ट, एक विशिष्ट अपनापन।"

मुक्तिबोध ने मनुष्य के मनोभावों तथा प्रकृति को भी प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। उनकी मानव जीवन के प्रति गहरी जुड़ाव के कारण वे रोजाना की जिंदगी के अधिकतर प्रतीकों को अपने काव्य में स्थान देते हैं। जैसे—पूँछ, दाँत, मूँछ, कचड़ा, चादरें, मोरियाँ, रफू, ईंधन, धुआँ, गुम्बद, अंगार, विष गठरी, आईना, अकादमी, पलस्तर, गडढ़े, धूल, बवंडर आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। **"मुक्तिबोध ने काव्य भाषा को एक नया तेवर दिया है। जो नई कविता की सामान्य काव्य भाषा की तुलना में काफी अनगढ़ और बेडौल लगता है।"**[xxxv]

मुक्तिबोध के काव्य में भाषा का अनगढ़पन, अजनबीपन और अटपटापन देखने को मिलता है। मुक्तिबोध की कविता की भाषा "संस्कृतनिष्ठ है, निराला की भाषा की तरह। जहाँ तक ऊर्जा के सर्जन का प्रश्न है, मुक्तिबोध निराला के उत्तराधिकारी हैं। पर निराला में विषयवस्तु, भाषा शैली की जो विविधता दिखाई देता है, वह मुक्तिबोध में नहीं।"[xxxvi]

मुक्तिबोध भाषा का चयन नहीं करते थे बल्कि भाषा को गढ़ते थे। मुक्तिबोध की के संबंध में डॉ. ललिता अरोड़ा कहती है, **"उनकी भाषा कभी संस्कृतनिष्ठ सामाजिक पदावली की अलंकृत वीधिका से गुजरती है तो कभी अरबी, फारसी, उर्दू के नाजुक लचीले हाथों को थामकर चलती है, तो कभी अंग्रेजी की इलेक्ट्रिक ट्रेन पर बैठकर जल्दी से खटाक-खटाक निकल जाती है।"**[xxxvii]

मुक्तिबोध की काव्य भाषा बोलचाल की भाषा है और जिसमें लयात्मकता देखने को मिलती है। मुक्तिबोध स्वप्न की शैली—'फैण्टेसी' के कवि के रूप में जाने जाते है। इसका सीधा संबंध कल्पना से है। 'फैण्टेसी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'फैण्टेसिया' से हुई है, जिसका अर्थ है, "**मानव की प्रवाह रूप में या माँग पर एक काल्पनिक दुनिया का निर्माण करने का अद्भुत सामर्थ्य।**"[xxxviii] मुक्तिबोध के अनुसार, "फैण्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का अनुभूत जीवन समस्याओं का इच्छित जीवन स्थितियों का प्रक्षेप होता है।"[xxxix]

मुक्तिबोध ने भारतीय जीवन की त्रासदी पीड़ा और सामाजिक तनाव को फैण्टेसी शैली में व्यक्त करने का प्रयास किया है। मुक्तिबोध की फैण्टेसी शैली पर विचार व्यक्त करते हुए नन्दकिशोर नवल ने कहा है कि—"मुक्तिबोध फैण्टेसी शैली की तरफ धीरे-धीरे बढ़े थे और यथार्थ बोध की परिपक्वता के साथ उनका ढंग स्वयंमेव बदलता गया था। दूसरे उन्होंने अपनी कविताओं में फैण्टेसी का कई प्रकार का इस्तेमाल किया है। कहीं फैण्टेसी का स्पर्श हल्का है, कहीं प्रगाढ़, कहीं वह सरल रूप में आती है और कहीं बहुत जटिल रूप में। उनकी फैण्टेसी शैली की सफलता उनकी इस क्षमता में निहिति है, जैसे वे जिस तरह यथार्थ को फैण्टेसी में बदल सकते थे उसी तरह फैण्टेसी का चित्रण भी बिल्कुल यथार्थ की तरह कर सकते थे। उनका यथार्थ लोक जैसे फैंटास्टिक है, वैसे ही उनका फैंटास्टिक लोक अत्यंत यथार्थ"[xl]

ट्रेजेडी साधारणतः फैंटेसी में ही होती है। कवि मुक्तिबोध स्वप्न के माध्यम से फैंटेसी की द्वारा यथार्थ का चित्रण करते है। मुक्तिबोध इस पर लिखते है कि, "कभी-कभी फैंटेसी जीवन की विस्तृत वास्तविकताओं को लेकर उपस्थित होती है और कथा के अंतर्गत जो पात्र, चरित्र और कार्य प्रस्तुत होते हैं वे सभी प्रतीक होते हैं-वास्तविक जीवन तथ्यों के।"[xli]

मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता में प्रतीक रूप में 'बरगद' का चित्रण हुआ है। इस कविता में 'बरगद' को परंपरा बोध और विषादमय जीवन के रूप में प्रतीक के माध्यम से प्रयोग हुआ है। उदाहरण स्वरूप—

"भयंकर बरगद
सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितो,
गरीबों का वही घर, वही छत
उसके ही तल-खोह-अँधेरे में सो रहे
गृहहीन कई प्राण।"[xlii]

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

'लकड़ी का रावण' पूँजीवादी व्यवस्था और शोषण का प्रतीक है। यहाँ 'वानर' जनवादी क्रांति का प्रतीक है। उदाहरण—

"बढ़ ना जायें
छा न जायें
मेरी इस अद्वितीय
सता के शिखरों पर स्वर्णाभ,
हमला न कर बैठें खतरनाक
कुहरे के जनतन्त्री
वानर ये, नर ये!!"[xliii]

मुक्तिबोध की कविता में प्रयुक्त प्रतीक जीवन की संपूर्ण व्याख्या करते है। अतः मुक्तिबोध ने इन प्रतीकों के माध्यम से कविता के कथ्य को स्पष्ट, रहस्यात्मक एवं काव्यशिल्प को जीवंत बनाया है। उनके अधिकांश प्रतीक मानव जीवन के संदर्भ में प्रयुक्त हुए है।

मुक्तिबोध की कविता में बिंबों के प्रयोग से अधिक समृद्ध हो गया है। उनकी कविता को बिंबमय कहा जा सकता है। मुक्तिबोध के बिंब के संदर्भ में कवि शमशेर बहादुर सिंह लिखते है कि **"मुक्तिबोध की हर इमेज के पीछे शक्ति होती है। वे हर वर्णन को दमदार, अर्थपूर्ण और चित्रमय बनाते हैं।"**[xliv]

मुक्तिबोध की कविताओं में पहाड़, पठार, गुफाएँ आदि के बिंब प्रयुक्त हुए हैं। उन्होंने भावानुभूतियों को मूर्तता प्रदान करने के लिए प्राकृतिक बिंबों का प्रयोग किया है। 'अंधेरे में' कविता में इसके उदाहरण मिलते हैं—

"भूमि की सतहों के बहुत-बहुत नीचे
अँधियारी, एकान्त
प्राकृत गुहा एक
विस्तृत खोह के साँवले तल में
तिमिर को भेदकर चमकते हैं पत्थर
तेजस्क्रिय रेडियो-एक्टिव रत्न भी बिखरे,
झरता है जिन पर प्रबल प्रणात एक।
प्राकृत जल वह आवेग-भरा है,
द्युतिमत् मणियों की अग्नियों पर से
फिसल-फिसलकर बहती हैं लहरें,
लहरों के तल में से फूटती है किरनें,
रत्नों की रंगीन रूपों की आभा
फूट निकलती
खोह की बेडौल भीतें है झिलमिल!!"[xlv]

प्रकृति के मनोरम दृश्य को चित्रण करने वाला बिंब प्रातः और संध्या के माध्यम से यहाँ वर्णन किया गया है। मुक्तिबोध ने अपने भावों, विचारों तथा जीवन को विभिन्न बिंबों द्वारा कविता में जीवंतता प्रदान की है।

मुक्तिबोध की कविताओं में अलंकार, बिंबो और प्रतीकों के सामंजस्य देखने को मिलता है। उनकी कविताओं में रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। जैसे—

"नीला पौधा
यह आत्मज
रक्त-सिंचिता-हृदय-धरित्री का
आत्मा के कोमल आलवाल में
यह जवान हो रहा
कि अनुभव-रक्त ताल में डूबे उसके पदतल
जड़े ज्ञान-संविदा
कि पीतीं अनुभव
वह पौधा बढ़ रहा
तुम्हारे उर में अनुसन्धित्सु क्षोभ का विरवा
वह मैं ही हूँ।"[xlvi]

मुक्तिबोध के काव्य में अनेक स्थान पर उत्प्रेक्षा अलंकार दिखाई देता है। उदाहरण स्वरूप निम्न पंक्ति को देखा जा सकता है।

"किंतु, गहरी बावडी
की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि
के उड़ते हुए परमाणु, जब

तल तक पहुँचते हैं कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने
झुककर 'नमस्ते' कर दिया।"[xlvii]

मुक्तिबोध की कविताएँ मुक्त छंद में लिखी गई है। उनकी कविताओं में काव्यभाषा, भाषाशैली प्रतीक, बिंब अलंकार और छंद का सुंदर चित्रण हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध एक सशक्त यथार्थवादी कवि थे। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के अनुरूप रूपकों, प्रतीकों, बिबों की परिकल्पना करते हुए भाषा को गढ़ा है। अतः मुक्तिबोध काव्यभाषा के शिल्पकार थे।

******

सहायक ग्रंथ सूची

1. 'मुक्तिबोध कविता और जीवन विवेक'- चन्द्रकान्त देवताले, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2003
2. 'प्रतिनिधि आधुनिक कवि', संपादक- डॉ.चन्द्र त्रिखा, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूल, संस्करण 2003
3. 'कवि परम्परा तुलसी से त्रिलोचन'-प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण-2008
4. विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ।

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

नागार्जुन : जन को समर्पित कवि

डॉ0 सुनीता कुमारी,
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
राँची वीमेन्स कॉलेज, राँची

बदलते समाज में नागार्जुन ने कविता को जनोन्मुख और ग्रामोन्मुख किया। ये दोनों ही कार्य जटिल थे। सामाजिक समीकरण बदलने का जो काम प्रेमचंद ने प्रारम्भ किया था, उसे नागार्जुन ने और व्यापक स्तर पर प्रभावी ढंग से शुरु किया, नयी शैली और नए बोल के साथ, जिसमें बातों की स्पष्टता है और विचारों का पुष्ट आधार है। उन्होंने वास्तव में प्रगतिशीलता के कवि के रुप में देश को स्वस्थ्य और सकरात्मक साहित्य प्रदान किया। उनकी भाषा में ग्राम्यांचल की महक है। दश की माटी की सुगंध है। कमजोर वर्ग की नागार्जुन आवाज हैं, वह आवाज जो दूर तक सनसनाती हुई गूँजती है।जब नागार्जुन जिस युग में प्रगतिशील आन्दोलन को अपने साहित्य से बुलंद कर रहे थे, तब की एक हकीकत यह भी थी कि विरोध का स्वर का सम्पूर्ण दायित्व इसी आन्दोलन के साहित्यकारों ने ले रखी थी। बिना मार्क्सवादी विचारधारा के साथ आए कोई लेखक शायद ही प्रतिष्ठित हो पाता था। कम्युनिस्ट संस्था प्रगतिशील लेखक संघ (प्रलेस) ने देश के वैचारिक क्रांति को एक नयी ऊँचाई दी। इस विचारधारा के साहित्य ने देश में सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समता की क्रांति खड़ी की और समाज को एक दृष्टिकोण दिया, भले इस माहौल का लाभ कम्युनिस्ट पार्टी राजनीतिक तौर पर नहीं उठा पायी हो लेकिन, दबे कुचले ने इस साहित्य से प्रेरणा पाकर जरुर अपनी हालत सुधारी और समाज में उचित स्थान पाने की चेष्टा की। लक्ष्मीकांत वर्मा ने इस क्रांति के सांस्कृतिक पक्ष पर बात करते हुए एक उल्लेखनीय बात कही है – ''सभी इसलिए एकजुट हुए कि कम्युनिस्ट पार्टी ओ उसके लेखक संघ (जलेस) ने जैसा सांस्कृतिक आन्दोलन छेड़ रखा था, उससे जुड़े बिना न प्रचार मिल सकता था, न प्रतिष्ठा संभव थी।''[1] यानी उस युग में मार्क्सवादी विचारधारा से विलग होकर साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी। उस युग में नागार्जुन की कविताओं का प्रयोग अपने भाषणों में जनसंघ के लोग भी करते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि नारी मुक्ति से लेकर दलित मुक्ति तक, राजनीति से लेकर समाज में सबको समानाधिकार की बात मात्र इसी विचारधारा के तहत की जा सकती है और नागार्जुन ने अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता को कभी छिपाने की कोशिश नहीं की और सतत समाज के पद दलितों से लेकर राजनीति की मनमानी तक पर चोट अपनी कविताओं के साथ–साथ अपने उपन्यासों से भी किया। उन्होंने गाया –

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ–
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त–
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ...
अविवेकी भीड़ के भेदिया धसान के खिलाफ....
अंध वधिर 'व्यक्तियों' को सही रास्ता बताने के लिए...
अपने आप को बारम्बार 'व्यामोह' से उबारने की खातिर
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ।

वे जन कवि हैं। हाशिए के लोग की आवाज हैं। उन्होंने स्वयं के लिए कोई आवाज नहीं उठाई और न वरदान मांगा–

कल्पना के पुत्र हे भगवान्
चाहिए मुझको नहीं वरदान।

नागार्जुन के पास एक एक अतिसंवेदनशील हृदय, पैनी दृष्टि और आम जनों की भाषा–शैली है। वह विसंगितयों को तुरन्त ग्रहण कर त्वरित प्रतिक्रिया में कविताओं की रचना करते रहे। उनकी कविताओं में तत्काल की बातें अधिक है, लेकिन वह दूरगामी प्रभाव छोड़ती है। आज जो तत्काल बातें हैं, वे कल के लिए कसौन बन जाती है। सामाजिक–राजनीतिक विसंगतियों या स्थितियों से जनित समस्याओं पर वे आक्रोश से भरकर कविता का सृजन करते थे। उन्होंने कहा भी है ''जब गुस्सा आता है, तब लिखता हूँ और जब मूड में होता हूँ।'' इसलिए 4, पृष्ठ–26 वे आक्रोश में राजनीतिक विसंगतियों पर ज्यादा लिखते और मूड में होने पर वे प्रकृति की गोद में जाकर भी जनवादी कविताएँ ही लिखते रहे, लेकिन दोनों स्थितियों की कविताओं में वही फर्क है, जो क्रोध और मूड (भाव) में होता है।

अन्य छायावादी कवियों की तरह नागार्जुन न कभी छिपाकर किसी विसंगिति पर चोट नहीं की। बिना आडम्बर के, बिना अलंकृत

भाषा के, उन्होंने वैचारिक कविताएँ लिखीं और विचारों में इतना पैनापन और सत्य डाला कि वे वाम–विचारधारा की सीमा को भी लांघ गए। वे एक कविता के द्वारा कहते हैं कि हाशिए के लोग उनसे पूछ रहे हैं कि वह उनको बताएँ कि विवशता, असमानता, गरीबी, अन्धविश्वास आदि से मुक्ति के लिए क्या किया जाय, तो ऐसे में धरती पुत्र नागार्जुन चुप कैसे रह जाते –

जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ
जनकवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ।

नागार्जुन की मान्यता है – ''अच्छी कविता सार्थक साम्यवाद करती है'' और उन्होंने सार्थक साम्यवाद उस जन समुदाय के लिए किया, जिसके पास आजादी की किरणें नहीं पहुँची, जो कैद रह गए गरीबी में, बेगारी में, शोषकों के जाल में और जो पिस गए सूदखोरों के चंगुल में, जिनके लिए सूखा मौत लेकर आता है, जिनके लिए सारी आपदाएं आती हैं और जो सुखी–समृद्ध लोगों की समृद्धता की रीढ़ वाला मजदूर है।

राजनीतिक खेल का नागार्जुन की आँखें तुरन्त परख लेती है और वे दो टूक कह पड़ते हैं।

सामंतो में कर दिया प्रजतातंत्र का होम
लाश बेचने लग गए खादी पहने डोम
कड़ी पहने डोम लग गए लाश बेचने
माइक गरजे, लगे जादुई ताश बेचने
इंद्रजाल की छतरी ओढ़ी श्रीमंतो ने
प्रजातंत्र का होम कर दिया सामंतों ने...

यह निर्विवाद है कि नागार्जुन की कविताएँ जनहित की कविताएँ हैं, तेवरदार कविताएँ हैं। वाणी में स्पष्ट है, खरा–खरा ह।

<u>सन्दर्भ</u> –

1. नागार्जुन की कविता, अजय तिवारी, वाणी प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, 2005, पृ०–191.
2. नागार्जुन रचनावली, भाग–2, पृ०–130.
3. प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक नामवर सिंह, राजकमल पेपर बैक्स, संस्करण 2004, पृष्ठ–21.
4. नागार्जुन रचनावली, खंड–दा, पृष्ठ–92.

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

साम्प्रदायिकता और तमस

डॉ. नवाब सिंह

साम्प्रदायिकता: आज की सबसे बड़ी चिंता

धर्मनिरपेक्षता और जनवादी मूल्यों में आस्था और विश्वास रखने वाले प्रत्येक भारतीय की आज सबसे बड़ी चिंता है - साम्प्रदायिकता का बढ़ता भयंकर उफान। साम्प्रदायिकता का स्वरूप भारत में दिन प्रतिदिन उग्रवादी, हिंसक, आतंकवादी, आक्रमक, पुनरुत्थानवादी और व्यापक अलगाववादी रूप ग्रहण करता जा रहा है। आज भारत एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है जहां लोगों की एकता, साझी संस्कृति, भाईचारा, सहिष्णुता, सद्भावना और सह-अस्तित्व जैसी लोककल्याणकारी परम्पराएं ही टूटती जा रही है। जिससे आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था को एक भयंकर चुनौती तथा खतरा उत्पन्न हो गया है। आज भारतीय एकता के समृद्ध, खूबसूरत और बहुरंगी चित्रपट पर सम्प्रदायवाद की काली छाया गहरी होती जा रही है।

आज के समय में भारत में साम्प्रदायिकता अकेला सबसे बड़ा विनाशकारी विचारधारा का रूप ग्रहण कर चुका है जिस पर गंभीरतापूर्वक व्यापक पैमाने पर विचार-विमर्श करना अतिप्रासंगिक मसला बन चुका है। धर्म में व्यापक, विस्तृत और विशाल विचारधारा होती है। धर्म के इसी व्यापक, विस्तृत और विशाल विचारधारा से उत्पन्न सीमित एवं खण्डित विचारधारा वाले समूह को सम्प्रदाय कहते हैं। धर्म का संघ होता है परंतु सम्प्रदाय का संगठन बनता है। सम्प्रदाय का सम्बन्ध और आधार धर्म तो होता ही है परंतु जब इसमें राजनीति प्रवेश कर जाती है तो समाज और राष्ट्र पर दुष्प्रभाव पड़ने लगते हैं। और धर्म की आड़ लेकर विशेष लोग राजनीतिक उथल-पुथल करने लगते हैं। धर्म की इसी खण्डित और सीमित विचारधारा को साम्प्रदायिकता कहते हैं। धर्म का क्षेत्र एवं रूप विस्तृत और व्यापक है परंतु सम्प्रदाय का सीमित एवं संकुचित।

साम्प्रदायिकता की पहचान

साम्प्रदायिकता क्या है ? धर्म तथा धार्मिक विचार व कर्म-विधियों में निष्ठा साम्प्रदायिकता नहीं है। धर्म का शोषण साम्प्रदायिकता है। धार्मिक समुदाय अथवा धार्मिकता से संलग्न होना साम्प्रदायिकता नहीं है। किसी धार्मिक समुदाय का अन्य धार्मिक समुदायों तथा राष्ट्र के खिलाफ प्रयोग करना साम्प्रदायिकता है। किसी धार्मिक समुदाय का, किसी भी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सेवा संघ से संबद्ध होना भी साम्प्रदायिकता नहीं है। किसी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक देश के नागरिक तथा किसी समुदाय को उसकी उत्पति के आधार पर उसकी सहानुभूति, सहायता, सामाजिक नैतिकता, उसकी सेवाओं या अधिकारों को प्रतिबंधित किया जाता है तो वह साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण कर लेता है। धार्मिक विधियों, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, फलित-ज्योतिष जैसे व्यवहारों के तहत मोहक एवं गूढ़ रहस्यों से संबद्ध होना साम्प्रदायिकता नहीं है, क्योंकि ये अज्ञानता, अशिक्षा और अवैज्ञानिक सोच के आदिम परिणाम हैं। सामाजिक जीवन और राजनीति में संकीर्णतावादी मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता भी साम्प्रदायिकता नहीं है, क्योंकि यह भी सामाजिक पिछड़ेपन और राजनीतिक प्रतिक्रिया की निशानी है।

साम्प्रदायिकता किसी खास धार्मिक समुदाय को ही एकमात्र अपनी राजनीतिक महत्त्वकांक्षा और गतिविधि का सम्पूर्ण रूप और मूल आधार समझता है। साम्प्रदायिकता एक राष्ट्र अथवा राज्य व्यवस्था के भीतर अन्य धार्मिक समुदायों को सीधे-सीधे प्रतिरोधी सत्ता यानी शत्रु के रूप में चित्रित करता है। जिसके फलस्वरूप एक दूसरे के प्रति द्वेषभावना, वैमनस्यता, शत्रुता और नफरत की भावना पैदा की जाती है। इस तरह साम्प्रदायिकता एक ऐसी राजनीतिक निष्ठा या एक ऐसी राजनीति है जो बहुजातीय और बहुधार्मिक

समुदाय से निर्मित राष्ट्रवाद के खिलाफ होती है। अतः साम्प्रदायिकता धार्मिकता नहीं है। धर्म तो मनुष्य को आध्यात्मिक अनुशासन प्रदान करता है, लेकिन साम्प्रदायिकता इस अनुशासन को तोड़ता है। साम्प्रदायिकता धर्म के संकीर्ण परिवेश में अपने को सीमित करता है और अपने आपको साम्प्रदायिक दल तक ही सीमित रखते हैं। साम्प्रदायिकता सांस्कृतिक आन्दोलन भी नहीं है और न संस्कृति से इसका कुछ लेना देना है। केवल किसी देश की इतिहास गाथा की चर्चा, अतीत की संस्कृति की दुहाई देना और इसी आधारशिला पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पैदा कर सोच को संकुचित-संकीर्ण कर एक-दूसरे को अलग करने का प्रयास करना ही इसका मूल उद्देश्य है इसलिए इसे कहीं से भी सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं कहा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता की चाल और चरित्र

साम्प्रदायिकता का विकास दूसरे समुदायों के प्रति वस्तुगत अथवा काल्पनिक भय पैदा करके किया जाता है। साम्प्रदायिकता भय दिखाकर समुदाय के कल्याण की समझदारी पैदा करने की प्रक्रिया के द्वारा आधुनिकीकरण करने तथा धर्मनिरपेक्ष परिवर्तन का ढोंग रचता है। साम्प्रदायिकता धार्मिकता को राजनीतिक युयुत्सु में परिवर्तित करता है। साम्प्रदायिकता विवेकसंगत, वैज्ञानिक मार्ग पर विकासशील राष्ट्र के संघीय ढांचे, जनवाद, क्रांति तथा प्रगति का शत्रु होता है। एक दूसरे समुदाय के खिलाफ वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए अतीत के मामलों को हथियार के रूप में प्रयोग करना साम्प्रदायिकता है। पिछली पीढ़ी की वास्तविक या काल्पनिक गलतियों के लिए वर्तमान पीढ़ी को दंडित करना और उसे जायज ठहराना साम्प्रदायिकता है।

अतः साम्प्रदायिकता न तो धार्मिकता है, न सांस्कृतिक आन्दोलन और न ही संकीर्ण प्रतिक्रिया का धटनाक्रम। यह एक ऐसी विचारधारा है जो एक समुदाय को दूसरे समुदाय के प्रति अपनी राजनीतिक निष्ठा को प्रतिष्ठित करता है।

साम्प्रदायिकता का जन्म एक ऐसी अवैज्ञानिक और संकीर्णता भरी सोच से हुआ है जो केवल अपने धर्म या सम्प्रदाय के लोगों के आर्थिक-सामाजिक हितों को ही प्रधानता व प्रमुखता देता है तथा अपने से भिन्न धर्म और सम्प्रदाय के लोगों के प्रति नफरत और भेदभाव करता है। मगर जब यह अवैज्ञानिक व संकीर्ण सोच व्यापक स्तर पर जनता में फैलने लगती है तो लोगों की एकता टूटनी शुरू हो जाती है और अंततः राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को खतरा पैदा हो जाता है। एक सम्प्रदाय या धर्म के लोगों के हितों की 'समानता के सिद्धांत' का विश्वास बिल्कुल ही अवैज्ञानिक है। अगर धार्मिक तथा साम्प्रदायिक एकता स्थायी राष्ट्र का निर्माण कर पाती तो 1971 में बंगलादेश का जन्म न होता। भारत में सिया-सुन्नी के झगड़े न होते, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ईरान-इराक युद्ध न होता।

साम्प्रदायिकता एक विकासशील और सृजनशील समाज को रुग्ण और गतिरुद्ध कर अनेक व्याधियों से ग्रसित करता है। समाज के भीतरी अन्तर्विरोधों को अपने लाभ के लिए उभारकर साम्प्रदायिकता द्वारा संगठित समाज को तहस नहस करना शासक की सबसे कुटिल रणनीति होती है। साम्प्रदायिकता का सबसे खतरनाक रूप आज इतिहास और संस्कृति की प्रस्तुति है। अब साम्प्रदायिकता ने भ्रष्टाचार और अनैतिकता से गठजोड़ कर लिया है। हर मोर्चे पर असफल शासक वर्ग साम्प्रदायिकता को एक ऐसे हथियार के रूप में प्रयोग कर रहा जो उसकी असफलताओं को छिपा सके तथा देश की जनता का ध्यान उसकी वास्तविक समस्याओं से हटा सके। इसीलिए पूंजीपतियों के धन से बनी सरकारें साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर अपने अवसरवाद को छुपा नहीं पा रहे हैं।

साम्प्रदायिकता और इतिहास

सही अर्थों में, भारत में साम्प्रदायिक तनाव और धर्मान्धतापूर्ण हिंसाओं के लिए जो जमीन तैयार की गयी उसे साम्प्रदायिक मनोवृति वाले स्वार्थी इतिहासकारों, राजनेताओं और बुद्धिजीवियों आदि ने ही तैयार किया है। और उस पर ऐसी फसल उगाई जिसकी कटाई आज भी निहित स्वार्थों द्धारा की जा रही है। इसलिए साम्प्रदायिकता को इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता है। क्योंकि साम्प्रदायिकता को इतिहास से ही ताकत मिलती है।

साम्प्रदायिकता और इतिहास में बहुत गहरा संबंध हैं। साम्प्रदायिक प्रचार द्वारा इतिहास को तोड़ा मरोड़ा जाता रहा है। कई साम्प्रदायिक ताकतें अपने विचारों को सही साबित करने के लिए इतिहास की व्याख्या का इस्तेमाल करती है। आज भी साम्प्रदायिक राजनीति करने वाले और उससे प्रभावित इतिहासकार भारतीय इतिहास की व्याख्या इसी प्रकार करते हैं। रोमिला थापर के अनुसार - ''चूंकि मुसलमान शासकों द्वारा हिंदू-मंदिर तोड़े जाने जैसी कुछ घटनाएं हुई थीं, इसलिए जरूरी है कि इन गतिविधियों का बदला अब लिया जाए, तो इसका जवाब यह होना चाहिए कि अतीत की राजनीति, उसका रूप चाहे जो भी हो, अतीत तक ही सीमित रहनी चाहिए। हमारा वर्तमान किसी भी तरह अतीत की राजनीति की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकता, और जो लोग यह कहते हैं कि ऐसा किया जा सकता है, वे वास्तव में अपने वर्तमान स्वार्थों के लिए अतीत का इस्तेमाल ही कर रहे हैं। और लोगों की समझ को प्रभावित कर साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काते हैं।'' (अयोध्या कुछ सवाल, पृ. 17)

विविध सभ्यताओं के समागम से विकसित हुई हमारी गौरवशाली लोकतान्त्रिक सांस्कृतिक परम्परा आज साम्प्रदायिकता के चंगुल में फँसी, छिन्न-भिन्न हो रही है। आज इतिहास, संस्कृति, परम्परा सबको बांटने की, तोड़मरोड़ कर विकृत करने की तथा अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए उसका मनचाहा इस्तेमाल कर सम्पूर्ण जनमानस को दूषित करने की साजिश हो रही है। इतिहास की पुनर्व्याख्या के नाम पर इतिहास के कुछ खास चरित्रों को जैसे राणा प्रताप, शिवाजी और गुरू गोविन्द सिंह को विशुद्ध हिन्दू नायकों के रूप में हिंसा और आतंक के साथ स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। और मुगल शासकों के विरूद्ध इनके संघर्ष को आज के हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। मुसलमानों के खिलाफ नफरत और द्वैष फैलाया जा रहा है। इस इतिहास दृष्टि का राजनैतिक उद्देश्य बहुत स्पष्ट है। ये प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अपनी साम्प्रदायिक राजनीति को ऐतिहासिक वैधता प्रदान कर अपने अस्तित्व का औचित्य और महत्ता प्रमाणित करना चाहती हैं। ये शक्तियाँ मुस्लिम शासन से पूर्व भारतीय इतिहास को उपलब्धियों का भण्डार तथा मुसलमानों के आगमन से भारतीय समाज का पतन तलाशती है।

साम्प्रदायिकता की राजनीति

साम्प्रदायिक विचारधारा के अनुसार, भारतीय समाज अनेक धार्मिक समुदायों का संघटन है और वह भारतीय समाज की पहचान मूलतः इन्हीं धार्मिक समुदायों की नजर से करती है। भारत की राजनीतिक सच्चाई को इन धार्मिक समुदायों के लिहाज से देखने की भी कोशिशें की गई हैं। इन कोशिशों में राजनीति को धार्मिक समुदायों के बीच अंतक्रिया के रूप में भी देखा गया है। राजनीतिक वफादारियों को भी इन्हीं पहचानों से जोड़ा गया है। राजनीतिक कार्रवाई को संबंधित धार्मिक समुदाय के हित-साधन की कोशिश के तौर पर लिया गया है। दावा किया जाता है कि धार्मिक समुदाय की इस परिकल्पना का ऐतिहासिक आधार है और इसीलिए उसके अस्तित्व को इतिहास में ज्यादा से ज्यादा पीछे ले जाने की कोशिश की जाती है ताकि उसे अतिरिक्त वैधता हासिल हो सके। इस तरह की पहचान सिद्ध करने का मकसद यही होता है कि उनके नाम पर आम जनता को गोलबन्द किया जाए।

साम्प्रदायिक विचारधारा एक ध्यान बँटाने की कोशिश है जो समाज में यथास्थिति बनाए रखने और ऐसा परिवर्तन होने देने की भी कोशिश है, जो साधनों तथा सामाजिक हैसियत से वंचित जनता यानी निचली जातियों एवं निचले वर्गाें की आकांक्षाओं को जगह देगा। और मूलगामी आंदोलनों को रोकने की कोशिश करती है। आजादी के बाद और आज के दौर में यह विचारधारा आसानी से फिट बैठ जाती है, जिसमें मध्यवर्ग नहीं चाहता कि सत्ता तथा साधनों तक आम आदमी की पहुँच हो। अतः जब राजनीति और आर्थिक स्थितियाँ लोगों में हताशा और निराशा पैदा करती हैं, तो सुषुप्त सामूहिक द्वेषों को हवा देकर साम्प्रदायिक राजनीति करना अपेक्षाकृत आसान होता है।

साम्प्रदायिकता भारतीय राष्ट्र की लोकतांत्रिक व्यवस्था को नुकसान पहुचाने वाली सबसे बड़ी कमजोरी है। भारतीय राष्ट्र को एकताबद्ध और सशक्त बनाये रखने के लिए धर्मनिरपेक्षता का निर्णायक महत्त्व है। धर्मनिरपेक्षता भारत का एक स्वाभाविक गुण है इसीलिए संविधान में इसको एक राष्ट्रीय प्रतिज्ञा के तौर पर माना गया है तो एकदम उचित ही है। धर्मनिरपेक्षता का शब्दार्थ जो भी हो, भारतीय राजनीति में यह शब्द साम्प्रदायिकता का विलोम या विरूद्धार्थ है। इसलिए इसका मुख्य गुण धार्मिक सहिष्णुता है। धर्मनिरपेक्षता को सेकुलरवाद कहने भी परम्परा चल रही है।

साम्प्रदायिक विचारधारा मूल रूप से उदार, मूलगामी चिंतन और कार्य का विलोम है। उसे जहां अपनी राह अवरूद्ध होती दिखाई देती है, वह अपनी गतिविधियों का अपराधीकरण करने तथा समाज को तबाह करने के लिए शहरी अर्द्धसर्वहारा या लंपटों को भर्ती करने में भी संकोच नहीं करती।

भारतीय समाज का साम्प्रदायीकरण 1947 तक की साम्प्रदायिकता से बहुत बदल चुका है। उस समय साम्प्रदायिकता मूलतः राजनीतिक लामबंदी का ही औजार थी। 1947 के बाद से साम्प्रदायिकता सिर्फ राजनीतिक लामबंदी का औजार नहीं रही बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में - और खासकर नाजुक क्षेत्रों, मसलन शिक्षा, प्रचार माध्यम, मीडिया, साहित्य, कानून एवं व्यवस्था बलों और अपने सभी पहलुओं के साथ समकालीन संस्कृति के सृजन तक में - धुस गई है।

आज सबसे उग्र साम्प्रदायिकता उस समुदाय की है जिसे 'बहुसंख्यक' कहा जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि 'अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता' है ही नहीं। चूंकि 'बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता' का संबंध विशाल जनसंख्या से है, उसका सबसे चिंताजनक होना स्वाभाविक है।

टकराव एक सामाजिक अभिव्यक्ति होता है। खासतौर पर तब जब वह राज्य का अथवा नागरिक समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले विभिन्न समूहों के बीच हो। मूर्तियों और मंदिरों के ध्वंस के सिलसिले में यह बात भी ध्यातव्य है कि मंदिर आदि सिर्फ धर्म के ही नहीं बल्कि राजनीतिक संस्कति के भी प्रतीक होते हैं।

स्वाधीनता आन्दोलन और साम्प्रदायिकता

1919 के जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड के बाद ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक दंगों का खूब प्रचार शुरू किया। इसके असर से 1924 में कोहाट में बहुत ही अमानवीय ढंग के हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इसके बाद राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना में साम्प्रदायिक दंगों पर लम्बी बहस चली। इन्हें समाप्त करने की जरूरत तो सबने महसूस की, लेकिन कांग्रेसी नेताओं ने हिन्दू-मुस्लिम नेताओं में सुलहनामा लिखकर दंगों को रोकने के यत्न किये। ''साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज'' नामक अपने लेख में भगत सिंह ने ''साम्प्रदायिकता को एक दिमागी कीड़ा'' माना है। यह दिमागी कीड़ा एक खास मनोवृति वाले समुदाय में होता है जो अपनी संकीर्ण और प्रतिगामी सोच से अशिक्षित और अंधविश्वासी जनता में ईष्र्या-द्वेष और हिंसात्मक नफरत के बीज बोते हैं। और जिसका उद्देश्य केवल

लोगों को आपस में लड़ाना ही नहीं है अपितु समाज को बांटना और तोड़ना भी है। साम्प्रदायिकता का गहरा सम्बंध धर्म से है। जब तक धर्म रहेगा तब तक साम्प्रदायिकता और कट्टरतावाद भी बना रहेगा। वही उसका उत्स है। साम्प्रदायिक कट्टरता का जन्म धर्म से ही होता है। भगत सिंह ने 1924 में यह जान लिया था कि साम्प्रदायिक दंगों को फैलाने के पीछे साम्प्रदायिक नेताओं और अखबारों का ही विशेष हाथ होता है। वे कहते हैं कि, ''दूसरे सज्जन जो साम्प्रदायिक दंगों को भड़काने में विशेष हिस्सा लेते रहे हैं, वे अखबार वाले हैं। पत्रकारिता का व्यवसाय, जो किसी समय बहुत ऊँचा समझा जाता था, आज बहुत की गंदा हो गया है। यह लोग एक-दूसरे के विरूद्ध बड़े मोटे-मोटे शीर्षक देकर लोगों की भावनाएँ भड़काते हैं और परस्पर सिर-फुटौव्वल करवाते हैं। एक दो जगह ही नहीं, कितनी ही जगहों पर इसलिए दंगें हुए हैं कि स्थानीय अखबारों ने बड़े उत्तेजनापूर्ण लेख लिखे हैं। ऐसे लेखक, जिनका दिल व दिमाग ऐसे दिनों में भी शांत रहा हो, बहुत कम है।'' आगे वे फिर लिखते हैं कि, ''अखबारों का असली कर्तव्य शिक्षा देना, लोगों से संकीर्णता निकालना, साम्प्रदायिक भावनाएँ हटाना, परस्पर मेल-मिलाप बढ़ाना और भारत की साझी राष्ट्रीयता बनाना था; लेकिन इन्होंने अपना मुख्य कर्तव्य अज्ञान फैलाना, संकीर्णता का प्रचार करना, साम्प्रदायिक बनाना, लड़ाई-झगड़े करवाना और भारत की साझी राष्ट्रीयता को नष्ट करना बना लिया है। यही कारण है कि भारतवर्ष की वर्तमान दशा पर विचार कर आँखों से रक्त के आँसू बहने लगते हैं और दिल में सवाल उठता है कि ''भारत का बनेगा क्या ?'' (साम्प्रदायिकता का ज़हर, पृ. 95) नब्बे साल पहले अखबारों के बारे में भगत सिंह की यह टिप्पणी आज के अखबारों के चरित्र और नीतियों पर भी एकदम सही साबित होती है।

''हिन्द स्वराज'' के 'हिन्दुस्तान की दशा-3' में गांधीजी मानते हैं कि साम्प्रदायिक कट्टरता जैसे विचार स्वार्थी धर्मशिक्षकों, शास्त्रियों और मुल्लाओं ने हमें दिये हैं और इसमें जो कमी रह गयी थी, वह अंग्रेजों ने पूरा किया है। हिन्दू-मुसलमानों के बीच के सतही और कहावती विरोधों को किनारे करते हुए गांधी जी ने उनकी राष्ट्रीयता पर जोर दिया है और गाय के प्रति अपने प्रेम को प्रकट करते हुए भी गोवध निषेध को मुसलमानों पर थोपने की कोशिश को गलत करार दिया है। बुनियादी तौर पर उन्होंने दोनों को भाइयों के रूप में संकल्पित करते हुए, हिन्दुओं को बड़े भाई जैसा व्यवहार करने की प्रेरणा दी है। हर व्यक्ति की धर्म की अपनी-अपनी धारणा होती है, इस तथ्य पर जोर देते हुए उन्होंने कहा है कि हिन्दू-मुसलमान अगर शास्त्रियों और मुल्लाओं को अपने बीच में न आने देें, तो उनके बीच झगड़े का मुंह हमेशा काला ही रहेगा। साथ ही गांधीजी ने मुसलमानों के हिंसक और हिन्दुओं के अहिंसक होने के मिथ का भी जोरदार खण्डन किया है। (हिन्द स्वराज्य, पृ. 54)

जलियावाला बाग़ हत्याकांड के बाद से भारत में साम्प्रदायिक दंगों ने चारों तरफ ज़हर फैलाना शुरू कर दिया। 1922 के बाद तो देशभर में साम्प्रदायिक तनाव और दंगे बड़ी तीव्रता से फैलने लगे। और आज गुणात्मक रूप में वह अधिक हिंसक और खतरनाक हो चुकी है।

तमस, साम्प्रदायिकता और हाशिए का समाज

'तमस' (1973) उपन्यास की मूल संवेदना अथवा मूल कथ्य साम्प्रदायिकता है। 'तमस' उपन्यास की रचना की पृष्ठभूमि में साम्प्रदायिकता का ताप और आतंक रचनाकार भीष्म साहनी के चेतना में लम्बे समय से व्याप्त रहा है। परिवेश और वास्तविक जीवनानुभूति के ताप से निःसृत 'तमस' इसीलिए अपने पाठकों में गहरी विश्वसनीयता को जिन्दा बनाये रख पाती है।

'तमस' उपन्यास का आरंभ वास्तविकता की विश्वसनीयता से होता है जहां गहन अंधकार में मद्दिम होती दीये की बत्ती और नत्थू की सांस की एकरूपता

आने वाले भयंकर खतरे की आहट को सूचित करती है ‘‘आले में रखे दीये ने फिर से झपकी ली। ऊपर, दीवार में, छत के पास से दो ईंटें निकली हुई थीं। जब-जब वहां से हवा का झोंका आता, दीये की बत्ती झपक जाती और कोठरी की दीवारों पर साए से डोल जाते। थोड़ी देर बाद बत्ती अपने-आप सीधी हो जाती और उसमें से उठने वाली धुएं की लकीर आले को चाटती हुई फिर से ऊपर की ओर सीधे रुख जाने लगती। नत्थू का सांस धौंकनी की तरह चल रहा था और उसे लगा जैसे उसके सांस के ही कारण दीये की बत्ती झपकने लगी है।‘‘ सुअर हत्या की यह अमानवीय व कारूणिक घटना और दृश्य एकदम जीवंत और प्रामाणिक लगती है जो पाठक के मन-मस्तिष्क में करूण संवेदना की अमिट छाप छोड़ जाती है। जो पाठकीय चेतना से भुलाए से भी नहीं भूलती है।

हाशिए के समाज और शोषित-उपेक्षित दलित जातिवर्ग के नत्थू चमार के द्वारा सुअर की हत्या की घटना से ‘तमस‘ की कथा शुरू होती है। क्यों होती है ? किसलिए होती है ? इसका कारण यह है कि लम्बे समय से साम्प्रदायिक दंगों में जाने-अनजाने दलित समाज को इस्तेमाल किया जाता रहा है। कभी उन्हें बलप्रयोग के रूप में तो कभी दंगें की चिंगारी भड़काने के रूप में दलितों का इस्तेमाल उच्च जाति वर्ग और सत्ता वर्ग करती रही है। हाशिए के लोगों की आर्थिक दरिद्रता और लाचारी, अशिक्षा और अज्ञानता, रूढ़िवादिता और धर्मांधता, उच्च जाति के आतंक और अत्याचारों के भय, सामाजिक पिछड़ेपन और शूद्र होने से बने दब्बू व हीन स्वभाव जैसी अनेक कमजोरियों के कारण उच्च जातिवर्ग और सत्ता वर्ग अपने राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के लिए दलितों का मनमाना इस्तेमाल करती रही है। नत्थू यही सोचता है, ‘‘मैंने जानबूझकर कुछ नहीं किया है। मैंने जो कुछ किया है अनजाने में किया है, ये लोग जो आग लगा रहे हैं और राह जाते लोगों को मार रहे हैं, ये क्यों बुरा काम कर रहे हैं ? मेरे एक सुअर को मार देने से क्या होता है ? एक सुअर को मार देने में रखा ही क्या है ? मैं मुजरिम हूं तो क्या ये लोग मुजरिम नहीं हैं ?‘‘(पृ.169)

दलित समुदायों को साम्प्रदायिक दंगों में हिंदुत्ववादी शक्तियों के द्वारा चालाकी से इस्तेमाल करने का कारण यह है कि ‘हिन्दुत्व‘ के विचार का उभार हिन्दुओं को मुस्लिम विरोध के नाम पर एकसूत्र में बाँध कर जहाँ एक ओर राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने का प्रयास है, वहीं दूसरी ओर देश की शोषित दलित जातियों को धार्मिक उन्माद में फँसाकर उनमें अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों के प्रति आ रही चेतना को दबाकर या नष्टकर उन्हें पुरानी स्थिति यानी मनुवादी व्यवस्था में बनाये रखने का प्रयास भी है। जातिवाद का नंगा नाच भी एक तरह की साम्प्रदायिकता ही है।

गहरे होते अंधकार में जिस अमानवीयता से नत्थू चमार सुअर की हत्या करता है वह बहुत ही कारूणिक और दिल दहलाने वाला है। आगे चलकर साम्प्रदायिकता के जहरीले और पाशविक अंधकार में इसी अमानवीयता से नत्थू अपनी पत्नी के साथ जीवन बचाने के लिए जो संघर्ष करता है वह भी सुअर की हत्या जितनी ही कारुणिक और दिल दहलाने वाली घटना से कम नहीं है। जान बचाने के लिए जो छटपटाहट सुअर में थी आगे चलकर वही छटपटाहट नत्थू में समा जाती है:-

‘‘उसकी आंखों के सामने सहसा सुअर की लाश घूम गई। फर्श के बीचों-बीच, चारों टांगे ऊपर को उठी हुई, और नीचे खून का ताल-सा, और वह सिहर उठा। पत्नी की बांहों में नत्थू का शरीर जैसे ठंडा पड़ने लगा। उसके कंधे पर पसीने की परत आ गई और उसकी पत्नी को लगा जैसे उसका मन भटक कर फिर दूर कहीं चला गया है। (पृ.158)

सुअर मारने वाला दलित नत्थू इतिहास की आंधी का एक सूखा पत्ता है। वह ऐसे भोले और अज्ञानी लोगों में से है जो सत्ता की इच्छा के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। नत्थू जैसे लोग सत्ता के भोले और मासूम मोहरे हैं जो अतीत से लेकर वर्तमान तक और वर्तमान से

भविष्य तक इसी तरह इस्तेमाल होते रहेंगे। क्योंकि ''मानवीय मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं होता, वास्तव में महत्त्व केवल शासकीय मूल्यों का होता है।'' (पृ. 125)

हाशिए के समाज के पिछड़े जीवन, बदहाल परिवेश, अंधविश्वासों, रूढ़िवाद और जीवन शैलियों को भी भीष्म साहनी ने दिखाना जरूरी समझा है। इसका कारण यह है कि पिछड़े-बदहाल आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृति परिवेश ही वह मूल वजह है जिसके कारण हाशिए के समाज ऐसी राजनीतिक साम्प्रदायिक साजिशों में सरलता से फंसा लिये जाते हैं। जिससे सत्ता वर्ग अपनी बड़ी-बड़ी महत्त्वाकांक्षाओं को अंजाम दिया करते हैं। नत्थू से सुअर की हत्या करवाने के बाद वह जिन-जिन संकरी गलियों व मोहल्ले से होकर अपने घर तक पहुंचने की पीड़ादायक यात्रा करता है तो उस यात्रा में जो समाज दिखाई पड़ता है वह सम्पूर्ण समाज मुख्य रूप से हाशिए का ही समाज है। नत्थू की घर तक पहंुचने की पीड़ादायक यात्रा में हाशिए के समाज के अंधविश्वासों और रूढ़िवादों जैसे जादू-टोना, अपशगुन, गोबर-मूत्र से भरे घड़े से टकराता है। नत्थू गली के सभी घरों को पहचानता है। जैसे मुसलमानों, धोबियों, कसाइयों, हमामवाले, हिन्दुओं, सिक्खों और शेखों, तांगा हांकनेवाले गाड़ीवानों, बकरवाहा आदि के घरों को पहचानता है। इन्हीं मोहल्ले में हर इतवार कुत्तों की लड़ाईयाँ हुआ करती थी। यहीं नेताबाजी, ताराबाई और परशुराम का सरकस, बैशाखी का ढोल बजता, दंगल तथा मुस्लिम लीग और बेलचा पार्टी के जलसे हुआ करता। इन हाशिए के लोगों की गलियाँ बदबूदार होती थी जहां नालियों में लसलसा कीच भरा रहता था। कांग्रेसी इन्हीं हाशिए के लोगों की नारकीय गलियों में तामीरी का काम करते थे।

भारत का इतिहास वास्तव में वर्ण तथा जाति संघर्ष, वर्चस्व और उसके खिलाफ विद्रोह का इतिहास रहा है। भारतीय इतिहास में वर्ण और जाति का यह संघर्ष संस्कृतियों का संघर्ष है। यह संघर्ष चाहे आर्य संस्कृति बनाम द्रविड़ संस्कृति का हो, सनातन बनाम बौद्ध का हो या मध्यकाल के सगुण आन्दोलन बनाम निर्गुण आन्दोलन का रहा हो, इन सभी संघर्षों में आर्य संस्कृति केन्द्र में रही है। आज यही आर्य संस्कृति 'हिन्दुत्व' के नाम से पूरे देश को गिरफ्त में लेने को व्याकुल है। लेकिन पुराने संघर्षों और 'हिन्दुत्व' के संघर्ष में एक बड़ा अंतर है। वह अंतर यह है कि हिन्दुत्व के संघर्ष में पुरानी आर्य या सनातनी व्यवस्था के शोषण का शिकार रहा शोषित-दलित वर्ग भी बड़ी संख्या में इस 'हिन्दुत्व' के आन्दोलन के साथ खड़ा नज़र आता है। कहना न होगा कि 'हिन्दुत्व' के आन्दोलन यदि आज ताकतवर हैं तो उसकी सबसे बड़ी ताकत यह दलित समाज है जिसका सबसे अधिक शोषण इस आर्य संस्कृति ने किया है।

हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव और साम्प्रदायिक चेतना अंग्रेजी शासन के द्वारा न तो बनाया गया था और न ही बढ़ाया गया था। साम्प्रदायिक भावना तो भारतीयों की चेतना में अंग्रेजों के आने से भी पहले विद्यमान थी। इतिहास इसका गवाह है। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की बागडोर संभाल रहे महात्मा गांधी जी ने हिन्दुवाद का जोरदार प्रचार प्रसार करते हुए कांग्रेस में धार्मिक पुनरुत्थानवाद, हिन्दू धार्मिकता तथा राजनीति को उलझा दिया था। 1920-22 के दौर में कांग्रेस असहयोग आंदोलन का नेतृत्व पूरी ताकत लगाकर कर रही थी और गांधी जी इस आंदोलन के मुखिया थे। उस समय गांधीजी ने सार्वजनिक रूप से जो कहा वह हिन्दू पुनरुत्थानवाद को बल देता है और साम्प्रदायिक एकता की भावना को चोट पहुंचाकर खण्डित करता है। गांधी जी ने कहा:-'' मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूं कि: 1. मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और हिन्दू-धर्मग्रंथों के नाम से प्रचलित सारे साहित्य में विश्वास रखता हूं, और इसलिए अवतारों और पुनर्जन्म में भी। 2. मैं वर्णाश्रम धर्म के उस रूप में विश्वास रखता हूं, जो मेरे विचार से विशुद्ध वैदिक है, लेकिन उसके

आजकल के लोक-प्रचलित और स्थूल रूप में मेरा विश्वास नहीं है। 3. मैं गो-रक्षा में उसके लोक-प्रचलित रूपों से कहीं अधिक व्यापक रूप में विश्वास करता हूं। 4. मैं मूर्ति पूजा में अविश्वास नहीं करता।'' (हिन्दू-धर्म क्या है ? पृ.6)

इस प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि नेता गांधी जी जनता की निगाहों में हमेशा हिन्दू धर्म तथा हिन्दू पुनरुत्थान के एक सक्रिय नेता के रूप में आते रहे। इनके अनुयायी भी इनके ही तरीके अपनाने लगे। इससे दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के लोगों ने आजादी के आन्दोलन को हिन्दू आन्दोलन समझा। 'तमस' देश की यह तस्वीर साफ साफ दिखाती है। मुस्लिम लीग यह प्रचार करती है कि कांग्रेस मुसलमानों की नहीं हो सकती:'' यह सब हिन्दुओं की चालाकी है। बख्शी जी, हम सब जानते हैं। आप चाहे जो कहें, कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। कांग्रेस मुसलमानों की रहनुमाई नहीं कर सकती।'' (पृ.31) उधर हिन्दुओं की समझ यह बन रही थी कि कांग्रेस मुसलमानों को सिर पर बिठा रही है।

हिन्दुत्ववादी संगठन और साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिक दंगों-फसादों से हिन्दुत्ववादी संगठन कभी पीछे नहीं रहते हैं। सत्ता की महत्त्वाकांक्षा के लिए ये सदैव तत्पर और सक्रिय रहते हैं। अंग्रेजी शासन और इसाई धर्म से हिन्दू संगठन को कोई परहेज नहीं है। अंग्रेजी शासन के तो वे वफादार, मुखबिर और सेवादार बने रहने की कसमें खाते हैं। दिक्कत है तो केवल हिन्दू-मुसलमानों के आपसी एकता और भाइचारे से। आरएसएस के सरसंघचालक माधव सदाशिव गोलवलकर ने अपनी किताब ''वी ऑर आवर नेशनहुड डिफाइंड'' (1939) में साफ लिखा है: ''विदेशी तत्वों के सामने सिर्फ दो ही रास्ते हैं, या तो राष्ट्रीय नस्ल में सम्मिलित हो जाएं और इसकी संस्कृति अपना लें या फिर उसकी दया के पात्र बनकर तब तक रहें जब तक राष्ट्रीय नस्ल उन्हें अनुमति दे और जब उसकी इच्छा हो तब देश छोड़कर चले जाएं.....चतुर व प्राचीन राष्ट्रों के अनुभव से निकलने वाले इस दृष्टिकोण के अनुसार, हिंदुस्तान में विदेशी नस्लों को हिंदू संस्कृति व भाषा को अपनाना होगा, हिंदू धर्म का आदर करना होगा तथा उसके सामने सिर झुकाना सीखना होगा, हिंदू धर्म व संस्कृति यानी हिंदू राष्ट्र के गौरवान्वयन के सिवा और सभी विचारों का त्याग करना होगा और हिन्दू नस्ल में घुल-मिल जाने के लिए, अपने पृथक अस्तित्व का त्यागना होगा। वर्ना वे इस देश में पूरी तरह से हिंदू राष्ट्र के अधीन होकर ही रह सकते हैं। उनका कोई दावा नहीं होगा। कोई विशेषाधिकार नहीं होंगे और अतिरिक्त सुविधाएं हासिल होना तो दूर रहा नागरिकों वाले अधिकार तक नहीं होंगे। उनके लिए और कोई रास्ता नहीं है, और नहीं होना चाहिए। हमारा एक प्राचीन राष्ट्र है और हमें अपने यहां बसे विदेशियों से वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा प्राचीन राष्ट्र करते हैं।''(पृ.47 व 48) इन विचारों का साम्प्रदायिक ताप 'तमस' में साफ साफ महसूस किया जा सकता है -'' क्या बातें करते हो बाबूजी, अब यह ख्याल ही दिमाग से निकाल दो। अब हिन्दुओं के मुहल्ले में न तो कोई मुसलमान रहेगा और न मुसलमानों के मुहल्ले में कोई हिन्दू। इसे पत्थर की लकीर समझो। पाकिस्तान बने या न बने, अब मुहल्ले अलग-अलग होंगे, साफ बात है।'' (पृ.250)

आरएसएस के प्रति हमदर्दी रखने वाले एंडर्सन तथा दामले ने अपनी किताब 'द ब्रदरहुड इन सैफ्रन' में साफ साफ बताया है कि किस प्रकार आरएसएस आजादी की लड़ाई से अनुपस्थित रहा है और इसके चलते उसने ब्रिटिश हुकूमत से कई रियायतें भी हासिल कर ली थीं। नानाजी देशमुख स्वीकारते हैं कि ''एक संगठन के तौर पर आरएसएस ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष में हिस्सा नहीं लिया..'' (आरएसएस, ए विक्टिम ऑफ स्लांडर, पृ.29) सच तो यह है कि बांबे के होम डिपार्टमेंट ने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन

के दौरान आरएसएस के संबंध में दर्ज किया था कि ''संघ ने मुस्तैदी से खुद को कानून के दायरे में रखा है और खासतौर पर 1942 के अगस्त में फूटे उपद्रवों में हिस्सा लेने से खुद को दूर रखा है।'' (एंडर्सन व दामले द्वारा 1987 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में उद्धृत, पृ.44) वास्तव में 'हिन्दू राष्ट्र' स्थापित करने की इस आकांक्षा ने संघ को अंग्रेजों का भक्त बना दिया।

भारत एक बहुधार्मिक, बहुभाषिक, बहुसांस्कृतिक व बहुलतावादी देश है। इसे एक रंग में रंगने की संकीर्ण सोच ने ही साम्प्रदायिकता के ज़हर को फैलाया है। फसाद शुरू हो चुका है। 'तमस' का शहरी हिंदुत्ववादी संगठन संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए सक्रिय हो उठा है। वानप्रस्थी इस संगठन के मुखिया हैं। वेद-गीता ही इनके विचार हैं कि ''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः'' फिर गीता ''आपूर्यमाणम् अचल प्रतिष्ठम'' फिर भजन ''सब पर दया करो भगवान''। इसके बाद धर्म और संस्कृति पर छाए संकट की चिंता और मलेच्छों से उसकी रक्षा करने के लिए कमर कसने की हुंकारवाणी बेहद नाटकीय ढंग से -''फैलाए घोर पाप यहां मुसलमीन ने, नेअमत फ़लक ने छीन ली, दौलत ज़मीन ने''।

इस उद्घोष के बाद रक्षावाहिनी बनाई जाती है। 15-16 साल के मासूम नौजवानों को हथियारों के प्रशिक्षण से तैयार करवाकर एक बूढ़े लाचार इत्रफरोश की हत्या करवाई जाती है। सरदार हरनाम सिंह के बेटे इकबाल सिंह को हिंदू से इकबाल अहमद यानी मुसलमान बना दिया जाता है। भविष्य की नौजवान पीढ़ी को मानवीय हिंसा के लिए तैयार कर पाशविक बनाना, उनके मन में घृणा, नफरत और विद्वेष भरकर हिंसक और क्रूर बनाकर साम्प्रदायिक संगठन इन नौजवानों को अपना औपनिवेशिक गुलाम बनाती है। साम्प्रदायिक गुलामी की यह प्रक्रिया आज भी चल रही है।

'तमस' में नत्थू जिस सुअर को रात भर में मारता है वह अगले दिन फिर मस्जिद की सीढ़ियों में जिंदा हो जाता है। और वह मरकर भी पांच दिनों तक सैकड़ों बेगुनाहों-निरपराधों को मारता रहता है। वह गांवों में, मुहल्ले में, मंडियों में और शहरों में कत्लेआम मचा देता है। पूरे शहर पर मौत-हत्याओं का नंगा नाच करता है। साम्प्रदायिक हिंसा के रूप में यह बार बार जी उठता है। और हमले करता है।

अंत में, 'तमसो मा जोतिर्गमय' ही 'तमस' उपन्यास का मूल सार है। एक तरफ जहां 'तमस' अंधकार का महावृत्तांत है'-जिसमें हत्या, लूट, बलात्कार, हिंसा, नफरत, उन्मादी धार्मिकता, राजनीतिक षडयंत्र, स्वार्थपरता और सत्तापरस्ती का लोभ, मनुष्यता का दमन, अमानवीयता की प्रचंड बर्बर क्रूरता, दरिंदगी और हैवानियत का नंगा नाच और मनुष्य के भविष्य का अंधकारपूर्ण होने की नियति शामिल है। वहीं दूसरी तरफ इस 'तमस' के अंधकार में ज्योति के अनेक स्फुलिंगों का प्रकाश भी रौशन होता है। अगर यह उपन्यास अपने समय के अंधकार का सच है तो अपने समय के ज्योति के स्फुलिंगां के प्रकाश का भी सच है। धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' में कहा था कि ''यह कथा ज्योति की है, अंधों के माध्यम से।'' इसी तरह 'तमस' भी अंधकार के माध्यम से वस्तुतः ज्योति की ही कथा है। गहन अंधकार में ज्योति की कथा ही 'तमस' उपन्यास की मूल सार्थकता है।

संदर्भ

1. अयोध्या: कुछ सवाल - संपादित: मालिनी भट्टाचार्य, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, सं.-1994.

2. साम्प्रदायिकता का ज़हर - संपादक डा॰. रणजीत, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद सं. 2011

3. हिन्द स्वराज्य - मोहनदास करमचंद गांधी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, सं. जून 2013

4. हिन्दू-धर्म क्या है ? - महात्मा गांधी, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 1993.

5. तमस - भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

6. ब्रदरहुड इन सैफ्रन: राष्ट्रीय स्वयंसेवक - डब्ल्यू एंडर्सन तथा डी श्रीधर दामले, विस्तार पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली 1987

7. आरएसएस: पिक्टिम ऑफ स्लांडर - नानाजी देशमुख, विजन बुक, नयी दिल्ली 1979

8. वी आर आवर नेशनहुड डिफाइंड - एसएस गोलवलकर, भारत पब्लिकेशंस, लोकेनायक एमएस अणे

की भूमिका के साथ।

डॉ. नवाब सिंह,
असिस्टेंट प्रोफेसर,
रामानुजन कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

"मनीषा कुलश्रेष्ठ के कहानी-संग्रह 'कठपुतलियाँ' में चित्रित यथार्थ"

प्रियंका चाहर
पीएच. डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग
राज ऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय,
अलवर
Email- priyankacur@gmail.com

हिंदी साहित्य जगत् की जानी-मानी लेखिका मनीषा कुलश्रेष्ठ को लेखन के प्रति रूचि अपनी माँ से विरासत में मिली थी। इनका जन्म 26 अगस्त, 1967 को जोधपुर, राजस्थान में हुआ। इनके लिखे कहानी-संग्रह 'कुछ भी तो रूमानी नहीं', 'कठपुतलियाँ', 'बौनी होती परछाई', 'केयर आफ स्वात घाटी' आदि लोकप्रिय हैं। 'कठपुतलियाँ' इनका दूसरा कहानी-संग्रह है। इसमें 'बिगडैल बच्चें', 'कठपुतलियाँ', 'स्वांग', 'प्रेत-कामना', 'रंग-रूप-रस-गंध', 'भगोड़ा', 'परिभ्रान्ति', 'अवक्षेप', कुरजाँ' आदि प्रमुख कहानियाँ हैं। मनीषा की ये कहानियाँ जीवन की विविधताओं को दर्शाते हुए समाज की वास्तविकता को हमारे सम्मुख रखती है। वे अपने समाज की बिखरी हुई कहानियों को अपने शब्दों में समेटा है। जहाँ प्रेम है, सपनें हैं, लोकरंग की झलक, द्वंद्व, अकेलापन, कला आदि के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को इस कहानी-संग्रह में प्रकट किया है। इन कहानियों में अपनी मिट्टी की महक है। आधुनिक परिवेश में ढलने के बावजूद मन से, संस्कृति से जुड़ने की बात भी सामने आती है; जहाँ हम अपने नैतिक मूल्यों से जुड़े हुए हैं।

एक ऐसी ही कहानी है 'बिगड़ैल बच्चे'। जिसमें फैशन या आधुनिक परिवेश के रहन-सहन, खान-पान के रंग में रंगे हुए हैं। जहाँ वे अन्य व्यक्तियों की नजर में अपनी संस्कृति से दूर जा चुके हैं। उनमें संस्कार, मर्यादा, लज्जा नहीं है, परंतु ट्रेन में एक महिला के बीमार होने पर वे तीनों अपनी ट्रेन छोड़ उसे अस्पताल ले जाते है; तब महिला उनकी शुक्रगुजार हो जाती है। वह अपनी सोच को बदलती है कि सिर्फ उपरी तौर-तरीकों को देखकर पता नहीं लगाना चाहिये। संस्कार तो मन में, विचारों में होते हैं। मूल्य तो हमारी आत्मा में बसे हैं; वर्ना ये अनजान बच्चे उसकी सहायता क्यों करते ? इस कहानी में इंसानियत को ही सच्चे धर्म के रूप में दिखाया गया है। समाज में रहकर व्यक्ति दूसरों से कट नहीं सकता। यहाँ रहकर हम हमारे मूल्यों से अछूते नहीं रह सकते। यह वास्तव में सच भी है जिसे लेखिका ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। कहानी में एक स्थान पर इस बात का उल्लेख हुआ है यथा- "होते हैं, आंटी सेल्फिस लोग भी। हमको हमारा मम्मी बोला इंसान का सेवा ही यीशू का सेवा है, आप बताओं न, आपकी जगह हम होते तो आप नहीं रुकते क्या हमारे लिए ...उन युवा और नेक फरिश्तों ने मुझे पूरी तरह से संभाल रखा था। उन्हें अपने आगे के कार्यक्रमों से ज्यादा मेरी चिंता थी। तीनों के कपड़े मेरी वजह से खून से सन गए थे। उन्होंने अपने सामान के साथ-साथ मेरा सामान भी संभाल रखा था।"[1]

मनीषा जी ने 'कठपुतलियाँ' कहानी में राजस्थानी परिवेश को पूरी तरह उजागर किया है। वहां के लोगों का खान-पान, रहन-सहन, संस्कृति, रीति-रिवाज, अंधविश्वास आदि का चित्रण इनकी कहानियों में दिखाई देता है। राजस्थान का भौगोलिक परिवेश भी उनकी नजर से अछुता नहीं रहा। वहां की समस्त समस्याओं से मनुष्य का जन-जीवन अस्त-व्यस्त है, तेज लू चलना, पानी की कमी, अनमेल विवाह, दहेज़ प्रथा, स्त्री मन की कोमल भावनाएँ आदि को बड़ी बारींकी से देखा और उसे उभारा भी है। 'कठपुतलियाँ' कहानी की नायिका सुगना का विवाह उम्र में अपने से बड़े व्यक्ति से हो जाता है। वह प्रेमी व पति में से अपने पति को चुनती है और पहली पत्नी के दोनों बच्चों को अपनाती है। वो प्रेमी के साथ जाने से इन्कार कर अग्निपरीक्षा देती है। यह कहानी अपने पीछे सवाल छोड़ती है कि हमेशा स्त्री को ही अग्निपरीक्षा क्यों देनी पड़ती है ? किसी पुरुष को क्यों नहीं ? वो ही हमेशा

क्यों खुद से पहले अपने कर्तव्यों व जिम्मेदारी को महत्त्व देती है। दहेज़-प्रथा के चलते उसका अनमेल विवाह कर दिया जाता है। "सुगना ने उत्तर में तेल मले हाथ आगे कर दिए एक पंच ने पान का एक-एक पत्ता उन नाजुक हथेलियों पर रखा और उन पर लाल, गरम ईंट रख दी गई। एक, दो, तीन पूरे सात मिनिट...आठवें मिनट पर ईंट जमीन पर रखकर सुगना उल्टियाँ करने लगी। पान का पत्ता जलकर काला हो गया था। पास पड़ी पानी की बाल्टी में पांच मिनट डुबोकर हथेलियाँ ऊपर उठा दी उसने...फफोले नहीं पड़े थे...पर हथेलियाँ ताज़ी रची मेहँदी की तरह लाल सुर्ख थी।"[2]

'स्वांग' कहानी बहरूपिया कलाकार गफ्फार खां की कहानी है। आज स्वांग जैसी कला विलुप्त होने की कगार पर है। जहाँ सरकार द्वारा उन्हें किसी भी प्रकार की कोई सहायता नहीं दी जाती। पहले सरकार ने उन्हें उनकी कला के लिए सम्मान प्रदान किया करती थी, परंतु वर्तमान समय में हालात बदल गए है। व्यक्ति अपनी कला के साथ दर-दर भटकता है; उन्हें कोई सहायता नहीं मिल पाती। सरकार नहीं समझती कि कला ही उनका खानदानी पैशा है। अब सरकार ने भी उन्हें पेंशन देने से मना कर दिया है। "आर्थिक सहायता जैसा कोई प्रावधान हमारे जिले में अब तक तो नहीं आया है, न ही बजट में इतनी गुंजाइश है। क्या आपको पता है ? इस जिले में आप जैसे बूढ़े, पेंशनयाफ्ता करीब तीन हजार कलाकार होंगे जो राजमहल के गुणीजन खाने की शरण से निकलकर हमारी गरीब सरकार की झोली में आ गिरे। ऐसे ऐसे कलाकार, जिनकी बूढी मरती हुई कलाओं का कोई नाम लेवा तक नहीं। जिनके बच्चों तक ने उनकी कला को बेकार समझ के छोड़ रखा है। आज के तरक्की पसंद युग में कला के क्या मायेने, वह भी राजा-महाराजाओं के जमाने की कलाएँ।"[3] आज कला को लोग भूलने लगे है जिसमें सरकार का भी सहयोग है किंतु गफ्फार खां के लिए पुरखों की दी कला को बचाए रखना महत्त्वपूर्ण है। कला तो उनके हाड़-मांस में खून की तरह रग-रग में बहती है तो वे उसे कैसे छोड़ दे। एक कलाकार के दुविधा का यथार्थ चित्रण इस कहानी में मिलता है साथ ही मजहबी कट्टरता की तरफ भी इशारा किया है।

'कुरजाँ' कहानी में घुमंतू काबिले से सम्बन्ध रखने वाली जाति की स्त्री कुरजाँ की कहानी है। महाराणा प्रताप ने जब अपना महल छोड़ा, तभी इन्होंने भी प्रतिज्ञा ली थी कि ये कभी भी घर बसा कर एक जगह नहीं रहेंगे। अंधविश्वास की जड़े हमारे समाज में कितनी गहरी जम गई है यह कहानी उसी समाज की स्थिति को बयां करती है। गाँव में सड़े मांस के द्वारा बनाया भोजन ग्रहण करने से बच्चों की मौत हो जाती है परंतु इल्जाम कुरजाँ के सर मढ दिया जाता है। कुरजाँ व उसके बच्चे को बेरहमी से पीटा जाता है। उन पर किया गया अत्याचार हमारी संवेदना को जाग्रत करता है। क्या उन लोगों में थोड़ी भी इंसानियत नहीं है ? क्यों दया, करुणा की भावना मर गई ? "कल रात जो मेरे साथ हुआ, उसकी परवाह नहीं...पहले भी रात को दरवाजा खटकाते थे। रावले के हाकम बी.एस.एफ के समान...तीन पुलिस के दरोगा...बत्तीस दांतों के बीच जबान की तरह कैसे बची मैं ही जानती हूँ। पर गाँव के छोरों ने पहले बार हिम्मत की...भेड़े भगा दीं, मुर्गियां खोल दी। जानवरों के टपरे में आग लगा दी। मेरे कपड़े फाड़े, बदसलूकी की...मेरी छोड़ो, जुगनू के साथ जो हुआ उसने मेरी हिम्मत तोड़ दी है माट्साब। कितना मारा उसे, टांगों से उठाकर गोल घुमा के जमीन पे छोड़ दिया।...कहकर वह पीड़ा से सिसक उठी। एक ख़ामोशी में उसकी हल्की सिसकियाँ गूंजती रही। उधर जुगनू की भी कराहटें बढ़ती जा रही थी।"[4] कुरजाँ ने अपने पुरखों से सांप, बिच्छु का जहर उतारना, बुरी आत्माएँ भगाना, किस्मत बांचना, जड़ी बूटी से दवा बनाना यही सीखा था। वह यही काम करती पर लोगों ने उसे डायन बना दिया। उसे अपसगुनी मानने लगे। गाँव में अशिक्षा के कारण लोगों की मानसिकता नहीं बदल पायी है; वे अब भी रूढ़ियों में जकड़े हुए हैं।

बाल-विवाह जैसी कुप्रथा वर्तमान समय में भी बनी हुई है। पुलिस प्रशासन के भ्रष्टाचार का भी कच्चा-चिट्ठा खोला गया। जहाँ कुरजाँ के पति को पुलिस वालों ने स्मगलर जासूस समझकर मार डाला। एक बेगुनाह के खून से पुलिसवाले अपना मतलब निकाल लेते है। कहानी में पुलिस प्रशासन की बेरहमी का भी यथार्थ चित्रण किया गया है। पुलिस हो या कोई और अकेली औरत के पीछे सभी व्यक्तियों की लालची नजर रहती है जहाँ उसका शारीरिक शोषण सभी व्यक्ति करना चाहते है। "अकेली औरत गोश्त की भुनी हुई नमकीन बोटी से ज्यादा क्या होती है। मेरे घरवाले को तो जबरदस्ती स्मगलर जासूस करार दिया; जबकि वह मरा तो यही रावले की बेगारी में है। दरोगा को रपट लिखने को कहा तो वह उल्टा मुझे ही तंग करने लगा।"[5]

'रंग-रूप-रस गंध' ब्रज में भिखारिनों के जीवन को जीती महिलाओं की कहानी है। अपनी आजीविका को चलाने के लिए वे विभिन्न कार्य करती है। उनका खान-पान व रहन-सहन निम्न स्तर का है। वे गरीबी व अभावों में जीवन जीती है। पंडों के द्वारा उनका यौन शोषण किया जाता है; उसे इस कहानी में वास्तविक रूप से बयां किया है। वे बदनामी से डरकर पुलिस के पास नहीं जाती। वे कितने ही ढोंगी, महात्माओं का शिकार होती रहती हैं। विधवाओं की अनेक समस्याएँ हैं; जहाँ उनका बार-बार अपमान किया जाता है। उसे घर में पेट भर रोटी तक नहीं दी जाती, सास द्वारा पीटा जाता है। ससुर गलियाँ देता है, देवर जेठ की रात-दिन सुनते-सुनते वह ब्रज चली जाती है। कहानी में नि:स्वार्थ प्रेम का बखूबी से वर्णन किया गया है। प्रेम जाति, धर्म देखकर नहीं होता। वह तो सच्चे इंसान पर ही रीझकर हो जाता है। फिर भी समाज उस प्रेम को स्वीकार नहीं कर पाता। विधवा से प्रेम करना हो तो उस व्यक्ति को अपराधों के कटघरे में खड़ा कर देता है। समाज की कड़वी सच्चाई इस कहानी में दिखाई देती है। प्रेम की पवित्रता जब आत्मा तक जाती है तभी सच्चा प्रेम संभव है। "हम ना माने यह रांड-रंडवे की बात...जे का बात भई...विधवा होना कोई पाप है का? रंग तो भगवान के दिए है। जया माई जे तो सोचना ही मति कि पंडा-पुजारियों की तरह हमें भी दिन में रांड की बस जात ही जात और रात में गात ही गात दिखे है। हमें जो खींचकर लाया वो कछु और ही है...तुम्हारी पवित्रता और निर्दोष जीवन।"[6] पंडों ने अपने तरफ उठने वाले हाथ को काटने के लिए अपने हाथ बेगुनाह के खून से रंग लिए। यह लोग किस हद तक गिर सकते हैं बता नहीं सकते लेकिन दिखावे में तो भगवान के भक्त बने फिरते हैं। उनकी कथनी और करनी में कितना अंतर है लेकिन धर्म के आडम्बर में उन्हें सब जायज है। शोषण भी जायज, बेगुनाह का खून भी जायज, अपमान भी जायज। ये कैसा धर्म है ? कैसी अंधश्रद्धा है ? इसके असली चेहरे से बहुत कम लोग रू-ब-रू है। लेखिका उन सब के चेहरों को बेनकाब कर हमारे सामने प्रस्तुत करती है। "ऐसे भी अंधेर नहीं मचा की छोकरे को यह पंडा मरवा देंगे। इन पंडा लोगों ने विधवा के साथ वैभिचार को वैभिचार कब माना, उसे तो यह उद्धार कहते है। एक छोकरी से डर जायेंगे क्या ? वह सीधी पहुँच गई गुंसाई के पास उन्होंने भी नजर चुराकर चिढ़कर कमला जीजी से कहा- 'उस रांड के मारे हमने भिजवा दिया बेनु को नाथ द्वारा भाई के पास।"[7]

'प्रेतकामना' कहानी में वृद्धावस्था का अकेलापन, बच्चों द्वारा माता-पिता की देख-रेख में होने वाली लापरवाही व एक प्रोफ़ेसर और छात्रा के नि:स्वार्थ प्रेम को दिखाया है। 'भगोड़ा' कहानी में एन.डी.ए. में व्याप्त भ्रष्टाचार व चापलूसी को इंगित करने के साथ-साथ जेल के जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है।

उपर्युक्त विवरण से 'कठपुतलियाँ' कहानी-संग्रह की सभी कहानियों में सूक्ष्म स्तर पर जहाँ सांस्कृतिक भूगोल की छवियाँ नजर आती है, वहीं इस दौर के सांस्कृतिक समीकरणों में हो रही उथल-पुथल

भी गोचर होती है। इनमें गरीबी, स्वार्थी प्रवृत्ति, भिखारिनों की समस्या, दहेज़ की समस्या, रेगिस्तान में पानी की समस्या, पंडों द्वारा उनका यौन-शोषण, एन.डी.ए. में होने वाले भ्रष्टाचार, चापलूसी, वृद्धावस्था का अकेलापन, आदिवासी लड़कियों की शिक्षा में असुविधा, पुलिस का भ्रष्टाचार आदि का चित्रण इस कहानी-संग्रह में किया गया हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ-

1) मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'कठपुतलियाँ', (तीसरा सं. 2016), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ.126, 127
2) वही, पृ.21
3) वही, पृ.129
4) वही, पृ.115
5) वही, पृ.108
6) वही, पृ.46
7) वही, पृ.49,50

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

कल, आज और कल को गुनते-बुनते कवि केदारनाथ सिंह

प्रोमिला
असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग
अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500605
मो.-8977961191

क्रिस्टोफर कॉडवेलने 'Illusion and Reality' (1937)पुस्तक के अंतिम अध्याय 'The Future of Poetry'में लिखा है कि प्रारंभ से ही कविता को समाज का मात्र एक जैविक अंगन मानने की अध्ययन परम्परा पर बल दिया जाता रहा है। किन्तु आज इसके संपूर्ण अध्ययन के लिए आवश्यक है कि हम कविता के उत्स का ही नहीं, उसके भविष्य का भी पाठ करें। कविता के अतीत पर विचार करने के क्रम में हम पहले से ही उसके भविष्य-यानी हमारे वर्तमान पर तो बात कर रहे होते हैं, किन्तु उसके वर्तमान को पूर्णत: समझने के लिए जरूरी है कि स्वयं को भविष्य में रख कर देखें।[1]

इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर जब भूमंडलीय तनावअधिक सूक्ष्म तथा मारक हुए हैं। अंतरर्राष्ट्रीय कंपनियों की तरफ से पैदा दबाव खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने से लेकर सोचने-विचारने तक पर क़ाबिज़ है। संचार माध्यमों की आड़ में नव-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया तीक्ष्ण हो रही है। सामूहिकता और स्थानियता पर खतरे बढ़ रहे हैं। ग्लोबल वार्मिंग, परमाणविक विध्वंसों के चलते प्रकृति और पर्यावरण सर्वनाश के कगार पर हैं। मनुष्य और मनुष्यता के सवाल अंध-उपभोग की आँधी में हाशिए की वस्तु बन रहे हैं। ऐसे में "कविता को मानव विरोधी शक्तियों के बीच मानव संवेद्य बनाए"(साहित्य अकादमी पुरस्कार अर्पण के अवसर पर दिया गया वक्तव्य) रखने के अनुमोदक, केदारनाथ सिंह की कविताएं, कॉडवेल के कहे अनुसार "आने वाले कल" की नजर से समझने और परखने की मांग रखती हैं। चेक कवि मिरोस्लाव होलुब (1923-1998)'Although'(1969) कविता में लिखते हैं-"कविता का होना ही खालीपन के खिलाफ एक गारंटी है।"[2]

केदार की कविताएंइसी संवेदनात्मक खालीपन के मध्य समाज, संस्कृति, भाषा, भूख, पानी जैसे जरूरी सवालों पर संतुलित और संयमित टिप्पणी करती हैं। इनकी कविताओं में संवेगों का आवेग नहीं, बल्कि आत्मसंयमितदृष्टि विद्यमान है। विशिष्ट प्रश्नाकुल मुद्रा और अस्तित्व को चीन्हने की एक गहन चिंता व्याप्त है।

2013 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित केदार का काव्य-संसार 1959 (तारसप्तक में प्रकाशित कविताओं) से 2014 (सृष्टि पर पहरा) के मध्य प्रकाशित आठ कविता संग्रहों में फैला है। इस बीच हिन्दी कविता कई उतार-चढ़ावों की साक्षी बनी है। कभी उसने आक्रामक मुद्रा अपनायी है,तो कभी उसकी नजरजीवनगतविद्रूपताओं और विसंगतियों पर कुछ इस प्रकार अटकी कि सर्वस्व का नकार ही अर्थवान बन गया है। किन्तु पूर्व अर्जित काव्य-उपकरणों को तिलांजली देकर, पूर्णतः मुक्त हो जाने की जैसी उत्कट बेचैनी और हड़बड़ाहट उनके के समकालीनों में दिखती है, वैसी केदार के यहांनहीं उभरती। समस्त अस्थिरताओं के बावजूद जिस स्मृति और संवेदना के साथ वे काव्य-संसार की तलछट में पैठतेहैं,उससे उनका काव्य-फलक अनवरतव्यापक होता गया है। 'तारसप्तक' में "रूको आँचल में तुम्हारे / यह समीरन बांध दूँ, यह टूटता प्रश्न बांध दूँ"(पृ.214)कहने वाला कवि 'सृष्टि पर पहरा' में लिखता है-

"यह क्लोन-समय है
कहीं ऐसा न हो
कोई चुपके से रच दे
एक क्लोन पृथ्वी।"

(कविता-ईश्वर को एक भारतीय नागरिक के कुछ सुझाव, सृष्टि पर पहरा)

मनुष्यता से आबद्ध रचनाकार ही समाजका यथार्थ बयां कर सकता है। कला के सामाजिक अस्तित्व की घोषणा करते हुए गिओर्गी प्लेखानोव ने कहा था- कलाकार की अनुभूतियां चारों ओर के वातावरण से निर्मित होती हैं। परिवेश का यह कलाकार-दृष्ट रूप ही दूसरों के लिए कलात्मक रूप में अभिव्यक्त होता है।[3]केदारके लिए"कविता सौन्दर्य और आतंक को एक ही बिन्दु पर जीने और महसूस करने की लम्बी कोशिश है।"[4]उनके काव्यानुभव प्रचलित और स्वीकृत तेवर से पूर्णतया भिन्न अनुभव-लोक में रमते हैं। कहीं वे सौन्दर्य की मिठास और कहीं आतंक केसंत्राससे अस्तित्व पाते हैं।

नवउपनिवेशीकरण की आड़ में फैली साम्राज्यवादी शक्तियों की पड़ताल करते हुए केदारनाथसिंह कहते हैं- "साम्राज्यवाद जिस किसी भी शक्ल में आएगा, उससे युद्ध के खतरे बढ़ेंगे। यदि आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर सारी शक्तियाँ चहेरा बदलकर नये रूप में सामने आ रही हैं, तो यह एक चिंता की बात है। जागरूक साहित्यकार इस स्थिति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अब सवाल है कि हम नव साम्राज्यवाद को किस तरह परिभाषित करते हैं। उसके स्वरूप की व्याख्या को लेकर मतभेद हो सकते हैं, पर जब हम साम्राज्यवादकी चर्चा करते हैं, तो हमारा ध्यान सबसे पहले पश्चिमी देशों के गठजोड़ की तरफ जाता है,जिसका सूत्रधार अमेरिका है। साहित्य और कला की दुनिया में भी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कई रूपों में सक्रिय हैं। जनता के पक्षधर साहित्यकार को शीतयुद्ध के इन हथकंड़ों के प्रति सतर्क रहकर अपनी भूमिका निभानी होगी।"[5]"एक सवर्था यांत्रिक, भौतिकवादी और विघटित समाज में आलोक-मधुर सामान्य प्रतिक्रियाओं की संभावना नहीं की जा सकती। यदि मानवीय चेतना के केन्द्र को सक्रिय बनाये रखना हो और संस्कृति की रक्षा करनी हो, तो ऐसा केवल कुछ सजग, बुद्धिमान और विवेकशील अल्पसंख्यक लोग ही कर सकते हैं।"[6]आज बाजारवाद, उपभोक्तावाद, विस्थापन, युद्ध, हिंसा, आतंकऔर भ्रष्टाचारकी वैश्विक व्यवस्था में शत्रु की पहचान दिन-प्रतिदिनगूढ़ सेगूढ़तर होती जा रही है। ऐसे में केदारनाथ सिंह की विवेकशीलता चीजों को मूल से पकड़ती है। कविता के मार्फत समय की उत्तर आधुनिक मुद्राओं से न केवल पाठक का परिचय करवाती है, बल्कि उसे चेताती भी है। अत्यंत आत्मीय संबोधन मेंसमय, समाज के बदलावों को शब्दबद्ध करते हुए कवि कहता है-"दोस्तो, यह सदी बीत रही है / बीत रहे हैं सारे पहाड़ और नदियाँ और हावड़ा का पुल / और हवाई जहाज के डैने / और बुनते हुए हाथ और चलते हुए पैर / सब बीत रहे हैं।"(कविता-उन्नीस, बाघ, पृ.54)साथ ही, संवेदनात्मक स्तर पर मनुष्य को कटा हुआ पाकर बेचैनी के साथ लिखता है-"अब किससे पुछूँ/ यह मेरा तो नहीं /आखिर किसका समय है /जो बजता है मेरी घड़ी में?"(कविता-समय से पहली मुलाकात) युग की नब्ज को चीन्हने की यह अकुलाहट अनेकों प्रश्नों को जन्म देती है- "मुठ्टी में प्रश्न लिये / दौड़ रहा हूँ वन-वन /पर्वत-पर्वत/……. लाचार।"(कविता- एक पारिवारिक प्रश्न, अभी, बिलकुल अभी, पृ.26)परन्तु उल्लेखनीय है किसमस्तविघटनकारी सत्ता-समीकरणों की सक्रियता के बावजूद केदारकी कविता संभावनाओं के मानी और हस्क्षेप के रास्ते तलाशना तथासरजना नहीं छोड़ती बल्किचौकस करते हुए उदबोधन के स्वर में कहती है-

"उठो कि कुछ गलत हो गया है
उठो कि इस दुनिया का कपड़ा फिर से बुनना होगा
उठो मेरे टूटे हुए धागो और मेरे उलझे हुए धागो उठो
उठो कि बुनने का समय हो रहा है।"

(कविता-बुनाई का गीत)

भूमंडलीकरण की आड़ में आज के बाजार का मुख्य एजेंडा दुनिया के तमाम देशों को चौराहे पर हाँक लाने

का है। बाजार, जहाँ"आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है,"जैसे मुहावरे पूर्णतः खारिज हो गये हैं। वैज्ञानिक शोधों और प्रोद्योगिकी से पैदा चीजें, नये–नये ब्रांडो की चमक के साथ, आक्रामक विज्ञापन और कुशल प्रबंधन से आवश्यकता में बदली जा रही हैं।जहां मनुष्य मात्र 'उपभोक्ता' घोषित हो रहा हैतथा उसका एकपाशविक बिम्ब तैयार किया जा रहा है। बकौल केदार,"जो चीज बाजार को सबसे ज्यादा संवेदना में विक्षोभ पैदा करने वाली वास्तविकता बनाती है, वह है क्रूर निस्संगता.....आधुनिक समाज में यह निस्संगता लगता है, गहरी और क्रूरतर होती गई है।.....और अब जबकि बाजार एक अपरिहार्य दबाव के रूप में हमारी चेतना पर हावी है तो उस क्रूर निस्संगता का दंश कितना बढ़ गया होगा इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।"[7]यानिमाँग और पूर्ति के नियमों पर टिकी इस व्यवस्था का प्राणीजगत से द्वंद्वात्मक संबंध निर्धारित है और इन्हीं संबंधों की गहनपरखबार-बार केदारकी कवितों में उभरती है। कुछ बानगियां-

- "वह जमीन से निकलता है और सीधे /बाजार में चला जाता है" (कविता-जाड़ों के शुरू में आलू, जमीन पक रही है,पृ. 57)
- "बाजार में क्या है"/मैंने पूछा/ "बाजार में धूल है"/ उसने हँसते हुए कहा /.....मैंने पूछा- "धूल"/"धूल में क्या है" /"जनता"-उसने बेहद सादगी से कहा.....बाजार में न धूल थी / न जनता /दोनों को साफ कर दिया गया था।" (कविता- बाजार, यहां से देखो, पृ. 38-39)
- "पर चिन्ता की कोई बात नहीं / यह बाजारों का समय है / और वहाँ किसी रहस्यमय स्रोत से / मैं हमेशा मौजूद हूँ"(कविता-पानी की प्रार्थना,ताल्सताय और साइकिल, पृ.11)
- "सच यही है कि बाज़ार में मिलते नहीं घोंसले/ वहाँ सिर्फ पिजड़े मिलते है (कविता-घोंसलों का इतिहास, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.21)
- "मैं उसे इसलिए भी जानता हूं / कि वह ब्रह्मांड का / सबसे समपन्न सौदागर है / जो मेरी पृथ्वी के साथ/ ताप और उर्जा की तिजारत करता है/ ताकि उसका मोबाइल / होता रहे चार्ज"(कविता-सूर्य-2011)
- "नहीं/ हम मंडी नहीं जाऐंगे / खलिहान से उठते हुए / कहते हैं दाने.....जाऐंगे तो फिर लौटकर नहीं आऐंगे"(कविता-दाने,अकाल में सारस, पृ.79)
- "कैसा रहे / बाजार न आए बीच में / और हम एक बार / चुपके से मिल आऐं / चावल से / मिल आऐं नमक से/ पुदीने से / कैसा रहे"(कविता-एक छोटा-सा अनुरोध, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.90)
- "जाने दो बबूल को / अगर जाता है कनाट प्लेस / हर बाजार में होना ही चाहिए काँटों से लदा / एक बबूल का पेड़ / बाजार के स्वास्थ्य के लिए!" (कविता-दिल्ली में बबूल, ताल्सताय और साइकिल, पृ.126)

इसी खरीद-फरोख्त की प्रवृति पर व्यंग्य करते हुए शमशेर बहादूर सिहं ने कहा था- "इल्मों-हिकमत, दीनो ईमां, मुल्को-दौलत, हस्नो-इश्क / आपको बाजार से जो कहिए ला देता हूँ मैं।" (सुकून का तलाश, शमशेर बहादूर सिहं, पृ.16)सामूहिकता के नकार तथा व्यक्तिवाद के स्वीकार से पुष्पित बाजार की तीन-पाँच को केदारनाथ सिंहबिना किसी बड़बोलेपन या आक्रोश के सहजता से कह देते हैं। उस सर्वव्यापी वर्चस्ववादी संस्कृति के निहितार्थों की ओर सटीक इशारा करते हैं, जिसने न केवल मनुष्य के दैनिक जीवन की वस्तुओं को गिरफ्त में लिया है, बल्कि पानी और सूर्य जैसी आदिम शक्तियों पर भी अपनी व्यापारिक नजरें गढ़ा दी हैं। 'ठाकुर का कुआँ'आज

पारले एग्रो जैसी कंपनियों की 'बिसलरी'बोतलों में बंद हो रहा हैऔर अनेकों गंगियां पीने के पानी के लिए भटक रही हैं। इस संस्कृति से जन्मी स्वार्थपरता में संवेदनाओं का ह्रास निरंतर जारी है। 'छाता' के बंगाली बाबू बीस बरस बाद "बाजार में मुझे दिख गए" लेकिन संवाद के नाम पर "ठीक हूँ" का संक्षिप्त वाक्य ही जब मुँह से निकला, तो विलुप्त हो रहे संबंधों की रिसती मिठासका दंश सहज ही कविता में उभर आया है।

नये परिदृश्य में प्रकृति और विज्ञान, परम्परा और आधुनिकता तथा गाँव और शहर की टकराहट औरउनके मध्य का तीखा द्वंद्वंभी केदार की कविता का अभिन्न अंग है। केदार मानते हैं-

"शहर की ओर जाते हुए
अपनी बीहड़ आजादी में
सड़क के किनारे
ठिठक गये थे बैल
बगल के खेत में ट्रेक्टर के चलने का
संगीत सुनते हुए।"
(कविता-बैलों का संगीत-प्रेम,सृष्टि पर पहरा)

बैलों का ठिठकना तकनीक के समक्ष विस्थापित होती शारीरिक श्रम की महत्ता के रोष से उपजता है, तो "बस्ती से शहर की ओर / कुछ न कुछ ढोती हुई /और अपने हिस्से की जमीन / लगातार-लगातार खोती हुई।" (बाघ, तेरहवां खंड,पृ.41) कविता-पंक्तियों में बैलगाड़ियों के बिम्ब से आयातित जीवन-शैली के समक्ष असहाय होती लोकसंस्कृति की टीस उभरती है। कविदिल्ली जैसे शहरों की भोगवादी जीवन-पद्धतिको केन्द्र बना कहता है-"यह शहर कि जिसकी ज़िद है सीधी-सादी / ज़्यादा से ज़्यादा सुविधा-सुख आज़ादी"(कविता- शहर में रात, यहाँ से देखो, पृ. 37) आधुनिक जीवन-शैली पर ऊँगली रखते हुएकेदार लगातारसंतुलित जीवन-शैली के विकल्प तलाशते हैं। आज जहाँ प्रकृति के प्रश्न हाशिए पर छिटकते जा रहे हैं,उनकी कविताएंप्रकृति और मनुष्य संबंधों को उत्स से पकड़ती हैं-"वह जो आपकी कमीज है / किसी खेत में खिला / एक कपास का फूल है"(कविता- कपास के फूल, सृष्टि पर पहरा)औरसह-भाव, सौन्दर्यबोध तथास्मृति की नयी व्याख्या कर पाठक को बांध देती हैं।

"तुम्हें कोई नहीं बतायेगा
कि इस समय
इस कोरे कागज पर तुम जो कुछ लिख रहे हो
उसमें पेड़ों की यातना भरी चुप्पी भी शामिल है।"
(कविता-पेड़, जमीन पक रही है,पृ. 42)

कहते हुएकेदारबिना किसी लाउडनेस के अंतर मन को झंकझोर देते हैं। ऐसी पंक्तियांअनायास ही उन अनछुई वस्तुओं, दृश्यों और घटनाओं को मुखरकर देती हैं, जो प्रतिपल समीप होने पर भी जीवन की आपाधापी में नजर से ओझल रहते हैं। ये कविताएँ ऑक्टावियो पाज़ के कथन कि "क्या जीवन से कविता की रचना की बजाय जीवन को ही कविता में बदलना बेहतर न होगा"[8](*Wouldn't it be better to turn life into poetry rather than to make poetry from life)*पर शत-प्रतिशत खरी उतरती हैं।

लोक जीवन की जीवटता में कवि काअगाध विश्वास झलकता है। 'घास' कविता में ऐसे सर्वहारा का चित्रण आता है,जिसमें सारी विषमताओं से जुझते हुएघास की भांति कहीं से भी पनप आने की अपार क्षमता है। कविता में उभरा छोटी-सी पत्ती के बैनर का बिम्ब उसे नयी अर्थवत्ता देता है-

"कभी भी....
कहीं से भी उग आने की
एक जिद है वह
.....
मैं घास के पक्ष में
मतदान करूँगा
कोई चुने या न चुने
एक छोटी-सी पत्ती का बैनर उठाए हुए
वह तो हमेशा मैदान में है।"

(कविता-घास, सृष्टि पर पहरा)

वस्तुतः घास के माध्यम से आम जन के साहस, ताकत और जिद को काव्य मंच देने का काम समय-समय पर कवियों द्वारा किया गया है। इसमें अर्सेनी तर्कोव्सकी (घास की पुस्कत), एरलिण्डो बारवेइटोस (घास, अकेली घास), पाश (घास), श्रीकांत वर्मा (घास), हरीश भदानी (घृणा की घास), इब्बार रब्बी (घास), दिनेश कुमार शुक्ल (घास-बंस बरूदावली) आदि-आदि की कविताओं की अर्थध्वनियां वर्ग-वैषम्य के तनावों पर जाती हैं। सर्वहारा की छाती पर पलते बुर्जुआ को चुनौती देती हैं।

क्रिस्टोफर कॉडवेल 'The Birth of Poetry'में लिखते हैं-"कविता को केवल नस्लीय, राष्ट्रीय, आनुवांशिक या विशिष्ट सार के रूप में ही नहीं वरन् आर्थिक क्रिया के रूप में भी समझा जाना चाहिए।"[9](Poetry is to be regarded then, not as anything racial, national, genetic or specific in its essence, but as something economic.) निजी दम्भ, दावों से दूरकेदारनाथ सिंह कविता को वृहतर आयाम देतेहैं। 'घास' के ही क्रम में 'रोटी' नामक कविता भी वंचितों और हाशियाकृत लोगों का मुखर बयान बनती है। अन्य अनुशासनों जैसे-समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र में रोटी छिनने, रोटी सेंकने, रोटी फेंकने और रोटी ढालने की प्रक्रियों से इतर साहित्य में रोटी की उपस्थिति एकदम भिन्न अर्थ में व्यंजित होती है। आर्थिक पहचान में संघर्ष की संभावित चिंगारी का बयान दर्ज करते हुए कवि राजनैतिक चेतना का परिचय देता है। वह कहता है-"आप विश्वास करें / मैं कविता नहीं कर रहा / सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ.....वह पक रही है / और आप देखेंगे-यह भूखके बारे में / आग का बयान है / जो दीवारों पर लिखा जा रहा है।" (प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.83)यहाँ गौरतलब है कि उद्देश्य, जिजीविषा और संवेदनाओं की दृष्टि से यह संघर्ष ही महान है।तमाम हताशा के मध्य भी कवि की संघर्ष चेतना हार नहीं स्वीकारती, बल्किजीवन-चेतना के मध्य पसरी संघर्ष शक्ति को बनाए तथा बचाए रखना ही उल्लेखनीय मानती है-

> "देख रहा हूँ / उस भीषणत्तम कड़क-कौंध के बाद / सुबह का होना कितना सहज-सरल है। / कैसे उस सारे मलबे से निकल रहा है / एक स्वस्थ-तगड़ा-सा सूरज / धीरे-धीरे।" (सं. भारत यायावर, राजा खुगशाल, कवि केदारनाथ सिंह, पृ.40)(कविता- आँधी-तूफान के बाद का सबेरा)
>
> या
>
> "कितना भव्य था / एक सूखते हुए वृक्ष की फुगनी पर / महज तीन-चार पत्तों का हिलना-उस विकट सुखाड़ में / सृष्टि पर पहरा दे रहे थे तीन-चार पत्ते।" (कविता-सृष्टि पर पहरा)

मार्क्सवादी भाषावैज्ञानिक वी. एन. वोलोशिनोव ने 1926 में लिखे,अपने लेख'Discourse in Life and Discourse in Poetry : Questions of Sociological Poetics'(जीवन में विमर्श और कविता में विमर्श : समाजशास्त्रीय काव्यशास्त्र के प्रश्न) में माना है कि किसी भी कलाकृति में अनकहे सामाजिक मूल्यांकन शामिल होते हैं, जो कलारूप का निर्धारण करते हैं।[10]केदार की कविता वैचारिक गहराई के साथ प्रयुक्त शब्दों, प्रतीकों, बिम्बोंकी नई बानगियां प्रस्तुत करती हैं। सुघड़ शब्द-योजना-उनकी विशिष्टता है। परम्परागत रूप-विधि का अनुशासन मानते हुए भी केदार नये रूप-प्रयोग का प्रयत्न करते हैं। लोक-बोली के शब्द उनमें रचे-पचे आते हैं। नवनिर्मित शब्द भी अटपटे नहीं लगते। अर्थ, संदर्भ, अस्तित्व, संभावना, ध्रुवान्त जैसे गद्य क्षेत्रीय शब्दों कोभी केदार अनुभूतियों के संदर्भ में रखकर काव्यात्मक बना देते हैं।[11]नंद किशोर नवल के लिए जहाँकेदार"दुर्दांत जिजीविषा के कवि"ठहरते हैं, वहीं परमानंद श्रीवास्तव उन्हें "समय

के साथ लगातार जिरह करनेवाले कवि" के रूप में स्वीकारते हैं।

अपने समय की प्रत्येक प्रतिकूलता से मुठभेड़ करने वाले केदार को चुप्पी मान्य नहीं।वे कहते हैं – "कई बार/ उसकी भूकंप-सी चुप्पी / मुझे अस्त-व्यस्त कर देती है।"(यहाँ से देखो, पृ. 99)एक अन्य कविता में वे लिखते हैं-

"मैंने एक बुजुर्ग से सुना था
कि चुप्पियाँ जब भी बढ़ती हैं
अँधेरे में नदी की तरह
चुप हो जाता है एक पूरा राष्ट्र
भूल जाता है अपनी भाषा
और एक फूल के खिलने से भी
दरक जाते हैं पहाड़
.....
ऐसे में मित्रों
अगर बोलता है एक कुत्ता
बोलने दो उसे
वह वहाँ बोल रहा है
जहाँ कोई नहीं बोल रहा"
(कविता-चुप्पियाँ, सृष्टि पर पहरा)

पहली पंक्तियों में कवि मौन को भूकंप के बिम्बसेजोड़कर एक सामान्य व्यक्ति की सचेतना में समायी क्रांतिकारी संभाव्यता को मूर्त करता है,तो दूसरी काव्य पंक्तियों में चुप्पी को तोड़ने का आह्वान करता है।

आज का सांस्कृतिक एजेंडा दुनिया के तमाम देशों की विविधताओं को नष्ट कर प्रत्येक सांस्कृतिक उपादान को व्यवसायिक हितों के अधीन समेट लाने का है और भाषा इस कड़ी का पहला पड़ाव है,चूंकिभाषा पर प्रहार अस्मिता और अस्तित्व पर हमले का पुख्ता अभिक्रम है। धुमिल ने मनुष्य के खिलाफ खड़ी की जाती भाषा के संबंध में लिखा था-"भाषा उस तिकड़मी दरिन्दे का कौर है /जो सड़क पर और है / संसद में और है।"(संसद से सड़क पृ0 96)केदार मनुष्य के संघर्षशीलजीवन में शब्दों की सार्थक उपस्थिति को उनकी सजीवता और निरर्थक उपस्थिति को निर्जीवता के रूप में देखते हुए अर्थपूर्ण संकेतों में बार-बार भाषा के सवाल से टकराते हैं-

- "मैं पूरी ताकत के साथ शब्दों को फेंकना चाहता हूँ आदमी की तरफ /.....मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूँ वह धमाका जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है।" (ज़मीन पक रही है, पृ 66)
- "ठंड में मरते नहीं शब्द / वे मर जाते हैं साहस की कमी से" (कविता-शब्द,प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.120)
- "हिन्दी मेरा देश है / भोजपुरी मेरा घर /घर से निकलता हूँ / तो चला जाता हूँ देश में/ .....पिछले साठ बरसों से / दोनों में दोनों को खो रहा हूँ।"(कविता-देश और घर, सृष्टि पर पहरा)
- "और मुझे रूकना होगा वहीं /उस भाषा का अध्ययन करने के लिए /जो मछलियाँ बोलती हैं/बहते हुए जल से / और वह विलाप जो गूँजता है उनकी आँखों से/चमक में वह तकनीक / जो बाजार करता है इस्तेमाल /उनके जल से / जाल तक पहुँचने की यात्रा में।"(कविता-शोध, सृष्टि पर पहरा)

वास्तव में, केदार अनुभवों की सशक्त पूँजी और समाज की ठोस समझ से सत्ताई केन्द्रों के वाचिक छद्म को पहचानते हैं। वे आम आदमी को शासकीय भाषा के खतरों से आगाह करते हुए, उसका अपनी भाषा में विश्वास जगाते हैं।अंग्रेजी से लड़ने के तर्क में लोकभाषाओं की थाती को बचाए रखने की वकालत करते हैं।

केदार की कविता-दृष्टि जीवन-दृष्टि की व्यापकता से आकार पाती है। उनके लिए साहित्य कोई व्यापारिकता नहीं, न ही वे छपास के मोह से ग्रसत हैं।

उनकी कविताएंवृहत मानव-हित में जन्म लेती हैं। यदि पराधीन, शोषित, दमित और आतंकित चहेरे आज की सच्चाई हैं, तो इसके साथस्त्री, दलित, आदिवासी और वर्ग संघर्ष की चेतना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। केदारइस नयी चेतना को निरंतर अपने काव्य-संसार में आमंत्रण देते हैं। स्मृति का हिस्सा बनी एक निर्भिक स्त्री को पाठक से परिचित कराने के क्रम में वे लिखते हैं-"थोड़ा आगे जाने पर /एक छोटा-सा जर्जर घर तुम्हें मिलेगा /कुछ समय पहले तक/उसमें एक बुढ़िया रहती थी / मर्दों की दुनिया से लड़ती-झगड़ती / एक निपट अकेली खुद्दार और / वह बस्ती की सबसे दमदार आवाज थी।"(कविता-अगर इस बस्ती से गुज़रो, सृष्टि पर पहरा)एक अन्य कविता में वे स्नेहमयी, दयालु माँ से इतर एक श्रमरत स्त्री-छवि में गोर्की की 'माँ' को याद करते हुए कहते हैं-"वह टमाटर बेच रही है /.....वह माँ का चहेरा है-मैं खुद से कहता हूँ / मुझे गोर्की की "माँ" बेतरह याद आ रही है।"(कविता-टमाटर बेचने वाली बुढ़िया, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ.83)स्त्री की ये नई छवियां हैं, जो स्त्री विमर्शकारों द्वारा प्रेरणा स्रोत के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं। इसी क्रम में 'बाजार में आदिवासी' कविता भी उल्लेखनीय है। जो उभरती उपभोक्ता संस्कृति की व्यर्थता को आदिवासी की "हिकारत भरी नजर" से बिना लाग-लपेट के अभिव्यक्त कर देती है-

"भरे बाजार में
वह तीर की तरह आया
और सारी चीजों पर
एक तेज हिकारत की नजर फेंकता हुआ
बिक्री और खरीद के बीच के
पतले सुराख से
गेहुँन की तरह अदृश्य हो गया
एक सुच्चा
खरा
ठनकता हुआ जिस्म।"
(कविता-बाजार में आदिवासी, सृष्टि पर पहरा)

व्यवस्थाकी कुटिलता से उपजी हिंसा, तड़प और आत्महत्या जैसी विडम्बनाओं को भी कवि 'फसल' नामक कविता में सामने लाता है- "अब यह हत्या थी / या आत्महत्या / वह आप पर छोड़ता हूँ।"(कविता-फसल)सीधे तौर पर,यह कविता डार्विन की थ्योरी का स्मरण कराते हुए स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और इस दौर के लुभावने नारे-'लोकतंत्र'की कलई को बेपर्दा कर देती है। जो संस्कृति अन्नदाता किसान को अनदेखा कर सकती है, उससे कोई और उम्मीद रखना कितना व्यर्थ है, इस अहसास को कवि पाठक के वर्तमान-बोध से जोड़ देता है।'इंडिया शाईनिंग'के सारे नारों की कलई एक ही पल में बेपर्दा हो जाती है।

केदारनाथ सिंह का सचेत मन एक ही क्षण मेंकल, आज और कल की तहों को अपनी समग्र सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक चेतना से कविता के फलक पर सजाता, संवारता चलता है। इस सृजन प्रक्रिया में तकनीकि विकास से अर्जित सुविधाओं की सीमाओं को बताते हुए एक ओर जहाँ 'विज्ञान और नींद' जैसी सरल कविता उभरती है, तो दूसरी ओर, 'गमछा और तौलिया' जैसी गुढार्थी कविताएँ भी आकार पाती हैं। कवि की कलम से कभी 'बाघ' जैसा सशक्त कविता संग्रह सामने आता है, जिसमें 'बाघ' किसी पूर्व कल्पित विचार या प्रतीक की भांति नहीं, वरन् एक जीवंत पदार्थमय सत्ता के रूप में कविता में उभरता है। तो कभी 'तालस्ताय और साइकिल' जैसा कविता संग्रह जिसके विषय में कुवंर नारायण का मत है कि "इस संग्रह की अनेक कविताएँ हमें चौंकाती हैं।..... लेकिन सिर्फ चौंकाने के लिए नहीं, हमारा ध्यान आकृष्ट करने के लिए।"[12]

केदार पाठक को किसी स्वप्नलोक की सैर नहीं करवाते। वे जीवन की द्वंद्वात्मकता को उसकी संपूर्णता में तलाशते हैं। वय अर्जित वरिष्ठता को कायम रखते हुए भी वे युवा पीढ़ी से गहन आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। कविता किसके लिए लिखी जाये का प्रश्न उठाने के क्रम में वास्तविक कविता की परिभाषा देने

से नहीं चुकते। वे लिखते हैं-"सरकारें परेशान / कि क्या करें-क्या करें इस कविता का/ कि हवा दो / पानी दो /टैक्स में दे दो चाहे जितनी छूट /पर वोट मांगने जाओ / तो कभी अपने पत्ते पर मिलती ही नहीं / जाने कैसी बनैली प्रजाति की लतर है /किसी राष्ट्रीय उद्यान में/ खिलती ही नहीं।"(कविता-कविता) साथ ही, तमाम निराशाओं, वञ्चनाओं, विडम्बनाओं, विसंगतियों के बीच भी आशा का दामन थामें रहते हैं-"पर मौसम/ चाहे जितना खराब हो / उम्मीद नहीं छोड़ती कवितायें।" (कविता-उम्मीद नहीं छोड़ती कवितायें, अकाल में सारस, पृ.106)

इस समस्त आशा, निराशा के मध्यइनकी कविताओं को पढ़ते हुए निराला की ये पंक्तियाँ बरबस ही स्मरण हो आती हैं-

"तुमने जो दिया दान दान वह
हिन्दी के हित का अभिमान वह
जनता का जन-ताकाज्ञान वह
सच्चा कल्याण वह अथच है
यह सच है।" (अनामिका, पृ.41)

संदर्भः

1. Caudwell Christopher, Illusion and Reality,P.221
2. HolubMiroslav,Although, P.47
3. सं.निर्मलाजैन,कुसुमबाँटिया,पाश्चात्यसाहित्य चिंतन, पृ.173
4. कविकेदारनाथसिंह, वही,पृ.30
5. आलोचना पत्रिका, जनवरी-मार्च 2014, पृ.85
6. Leavis, F. R. Mass Civilization and Minority Culture,p. 225
7. साक्षात्कार, केदारनाथसिहं, पृ.183
8. Prateeksha M. TiwariNoble prize Winners of the World,P. 176
9. Caudwell Christopher, Illusion and Reality,P.34
10. VOLOSHINOV, V.N. (BAKHTIN, M.M.). Discourse in Life and Discourse in Poetry: Questions of Sociological Poetics. Translated from Russian into English by John Richmond. In: SHUKMAN, Ann (Ed.). *BakhtinSchoolPapers*. Oxford: RTP Publications, 1983. pp.5-30.
11. सं. भारतयायावर, राजाखुगशाल, कविकेदारनाथसिंह, पृ.190
12. आलोचनापत्रिका, अक्तूबर-दिसम्बर 2013, पृ.18

कहानी का बदलता परिदृश्य और लम्बी कहानी

विवेक कुमार चौरसिया
शोधार्थी
हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय
मो. 9454611878
ई. मेल. Vivekkumarvns1@gmail.com

'लम्बी कहानी' कहानी का ही रूप है। जिसकी पहचान का मुख्य आधार उसके बढ़ते हुए पृष्ठों की संख्या है। पहले कहानी जहाँ पर 6 या 7 पृष्ठों में समाप्त हो जाती थी, आज वैसा नहीं है। आज लम्बी कहानी अपने विस्तार के कारण उपन्यास के समीप पहुँच गयी है। परन्तु कहानी विधा होने के कारण इसे उपन्यास नहीं कहा जा सकता है। यह कहानी की ही सजातीय विधा है, जिसे अधिक विस्तार के कारण लम्बी कहानी नाम दिया गया है। कहानी विधा होने के बावजूद यह अपनी विशिष्ट रचनाशिल्प के कारण अलग परंपरा विकसित करती है। लम्बी कहानी लेखन का काम समाज में बढ़ती हुई समस्याओं तथा जनता की चित्तवृत्तियों में हो रहे परिवर्तन का सूक्ष्म तरीके से विश्लेषण करना है। आधुनिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति की यह प्रवृत्ति है कि वह समाज में सबसे अलग और श्रेष्ठ दिखे। इसी प्रवृत्ति को पूरा करने के लिए उसे विभिन्न परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है जैसे- तकनीकी प्रयोग से जीवन को सरल बनाना, अधिक उपभोग करने की प्रवृत्ति, वैश्वीकरण के कारण व्यक्ति और समाज की बदलती स्थितियाँ आदि। ये सब जटिलतायें ही व्यक्ति के जीवन को चारों तरफ से घेरे रहती हैं। इन सारी जटिलताओं को व्यक्त करना ही लम्बी कहानी का काम है। यह नई दृष्टि ही लम्बी कहानी को कहानी कहने की पूर्व परंपरा से अलग करती है। साधारण शब्दों मे कहा जाये तो यह अलगाव घटना और परिवेश में, अंतर्द्वन्द्व में, मनोभाव एवं विचारों मे सामान्य रूप से दिखाई देता है। लम्बी कहानियों के विषय में निर्मल वर्मा का कथन है कि "लम्बी कहानियों के लिए मेरे भीतर कुछ वैसा त्रास भरा स्नेह रहा है, जैसे शायद उन माँओं का अपने बच्चे के लिए, जो बिना चाहे लम्बे होते जाते हैं- जबकि उम्र में छोटे ही रहतें हैं। ऐसी कहानियों को क्या कहा जाए जो कहानी की लगी-बँधी सीमा का उल्लंघन कर लेती हैं, किन्तु उपन्यास के बड़प्पन में जाने का साहस नहीं कर पाती हैं।"[xlviii] लम्बी कहानी कहानी के अंतर्गत पात्र के जीवन में क्या घटनाएँ घट रही हैं उसको ही नहीं व्यक्त करता है साथ ही वह पात्र के मनः स्थित में उत्पन्न होने वाले विचारों को भी व्यक्त करता है। समाज में आधुनिकता आ जाने के कारण व्यक्ति को कई स्तरों से गुजरना पड़ता है। जैसे उदय प्रकाश की कहानी मोहनदास का पात्र मोहनदास को नौकरी पाने के लिए कंपनी के छोटे से लेकर बड़े अधिकारियों तक मिलना पड़ता है और तब भी वह नौकरी नहीं पाता है। जब वह कंपनी के सभी अधिकारियों से मिलता है प्रत्येक के साथ उसे अलग-अलग घटनाओं का सामना करना पड़ता है। व्यक्ति के जीवन में इन्हीं बढ़ती समस्याओं से कथाकारों की लेखन शैली में भी विस्तार हुआ है। जीवन की इसी गहनता को व्यक्त करना ही लम्बी कहानी का काम है। इन सब को व्यक्त करते हुए लम्बी कहानी, कहानी विधा की सभी शर्तों को मानकर चलती है।

लम्बी कहानी, कहानी विधा होते हुए भी अपने स्वरूप और विस्तार के कारण कहानी विधा के अन्य रूप जैसे कहानी (छोटी कहानी), लघुकथा से कहीं भिन्न हो जाती है। लम्बी कहानी किसी घटना को बहुत ही सूक्ष्म और विस्तार पूर्वक वर्णन करती है। यह कहानी विस्तार के समय जल्दबाजी नहीं करती और घटना के प्रत्येक पहलू को दिखाना चाहती है। यह कहानी (छोटी कहानी) के समान जल्दबाज़ी नहीं करती है। यह कहानी घटना के संघर्ष को विभिन्न कोणों से देखती है। विभिन्न कोणों से देखने के कारण ही कहानी में विस्तार होता है। परन्तु कहानी का

विस्तार होने के कारण मुख्य पात्र के अतरिक्त सहायक पात्रों की संख्या अधिक बढ़ जाती है। जहाँ कथाकार को मुख्य पात्र के चरित्र और परिवेश का वर्णन करता है साथ ही सहायक पात्रों के परिवेश का भी वर्णन करना पड़ जाता है। जैसे मोहनदास कहानी में मोहनदास मुख्य पात्र है लेकिन उसके साथ उसके घर के सभी सदस्यों और घटना से सम्बंधित अन्य लोगों का भी वर्णन किया गया है। जो कहानी के विस्तार के साथ-साथ मुख्य संघर्ष को गहराई तक जाने में आयाम प्रदान करते हैं।

लम्बी कहानी में एक ही मनोभाव की प्रधानता होती है परंतु यह उस मनोभाव का प्रभाव अपने व्यापक फ़लक पर डालती है और जीवन की जो-जो भूमि जहाँ-जहाँ तक उसके प्रभाव में आ जाती है, सबको स्वीकार कर लेती है। लम्बी कहानी किसी घटना के ऊपरी परिदृश्य को दिखाने का प्रयास नहीं करती, वह उस घटना के जड़ तक जाती है और उसको व्यापक विस्तार में ग्रहण करती हुई दिखाई देती है। लम्बी कहानी में घटना के संदर्भ में 'एकता' या ईकाई का पालन नहीं होता, पात्रों के संदर्भ में भी वह एकता की शर्त से नहीं बंधी रहती, उसमें जिस तरह घटनाएँ बढ़ती जाती हैं पात्रों का भी विस्तार हो जाता है। इसी से उसका आकार बढ़ जाता है। साथ ही वह अपने कहानीपन को भी निरंतर बनाए रखती है।

लम्बी कहानी की मूल विशेषता है कि किसी घटना का विस्तार से विश्लेषण करते हुए चलती है तथा अंत में कहानी की संपूर्ण स्थिति को संश्लेषित करके देखती है। जिसमें कहानी घटना अपने पूरे प्रभाव की गहनता लिए हुये होती है। लम्बी कहानी अपने विस्तार के कारण जहाँ पर कहानी (छोटी कहानी) को नकारते हुए चलती है वहीं पर वह कहानी के मूल भाव की भी रक्षा करती है। वह कहानी शिल्प का पूरी तरह से पालन करती है। कहानी का प्रभाव जहाँ पर शीघ्र दिखाई पड़ जाता है वहीं पर लम्बी कहानी में अधिक समय लगता है। क्योंकि कथाकार लम्बी कहानी में बहुत गहराई में जाने के कारण समय की आवश्यकता पड़ती है। जिसका लम्बी कहानी में पर्याप्त अवसर रहता है। लम्बी कहानी, लम्बी होने के कारण उसकी कहानी विधा में कोई परिवर्तन नहीं होता है क्योंकि वह अपने कहानीपन को बचाए रखती है।

समकालीन कहानियों के विषय में सुरेन्द्र चौधरी का कहना है कि "सामायिक कहानी लेखक व्यक्ति-व्यापारों को केवल घटना के साथ जोड़कर कथावस्तु का निर्माण नहीं करता, वह ऐसा संतुलन बनाने की चेष्टा करता है जिसमें व्यापार कहानी की परिधि की ओर सहज गति से बढ़ते हुए जीवन-प्रवाह का संकेत दे सके।"[xlix] इस सन्दर्भ में लम्बी कहानी के विषय में कहा जाय तो लम्बी कहानियां घटना का संतुलित ढंग से विस्तार तथा कहानी की परिधि को भी ध्यान में रखते हुए कहानी को नया रूप प्रदान करती हैं। यही नया रूप ही कहानी में घटित समस्याओं से अवगत कराते हुए वह अपने मुख्य लक्ष्य को प्राप्त करती है। लम्बी कहानी की यह विशेषता है कि घटित घटना के किसी भी दृश्य को अछूता नहीं छोड़ती, सभी का ब्यौरा देते हुए चलती है। आज का कहानीकार अपने पात्रों के कार्य व्यापार को सहज ढंग से प्रस्तुत नहीं करता, वह पात्रों के परिस्थितियों के आधार पर उसके कार्य व्यापर का विश्लेषण करता है। इस प्रक्रिया के दौरान वह पात्रों के आतंरिक परिस्थितियों के निर्माण में बड़ी सूक्ष्मता बरतता है। जो कहानी के विस्तार में सहायक सिद्ध होती है।

लंबी कहानी का आविर्भाव कब से माना जाय यह विवाद का विषय है लेकिन यह कहानी विधा के काफी समय बाद हुआ। लंबी कहानी लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी इसके लिए कहानी तथा साहित्य की अन्य विधाओं की विकास यात्रा को देखा जाय तो, लम्बी कहानी लेखन की पड़ताल की जा सकती है। कहानी लेखन के पहले साहित्य में प्रबंध काव्य, खंडकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि का विकास हो चुका था। जिसमे समाज के विस्तृत फलक को

लोगों के सामने प्रस्तुत की जाती थी। परन्तु उसी समय देखा गया कि कवियों द्वारा छोटी-छोटी कविताओं के माध्यम से लोगों में जागरूकता फैलाने का कार्य किया जा रहा था। जिसका प्रभाव लोगों पर कम पड़ा क्योंकि एक ही समस्या को व्यक्त करने में कई छोटी कविताओं का निर्माण करना पड़ता था। इस समस्या से निजात पाने के लिए कवियों ने लम्बी कविता लिखना आरंभ किया। जिसमें एक ही घटना से जुड़ी सारी समस्याओं को व्यक्त करने में सफल हुए। इसी के अनुरूप ही कहानी से लंबी कहानी का भी विकास हुआ।

लम्बी कहानियों का विकास लम्बी कविताओं के कारण से हुआ। क्योंकि छोटी-छोटी कविताओं में कवि अपने समय की सम्पूर्ण समस्याओं को व्यक्त कर पाने में असमर्थ थे। इसलिए वे टुकड़ो में व्यक्त करते थे। जिससे पाठक को उनकी सभी छोटी-छोटी कविताओं को एकत्रित करके पढ़ना पड़ता था, तब जाकर कवि के भावों को समझ पाता था। लेकिन जब से लम्बी कवितायेँ लिखी जाने लगीं तब से ये समस्याएँ दूर हो गयीं क्योंकि वे अपनी एक ही कविता में समय की सारी घटनाओं को व्यक्त कर देते हैं। जैसे मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' एक लम्बी कविता है, जो अपने समय की घटनाओं का जाल बुनता हुआ चला जाता है, और कविता लम्बी होती चली जाती हैं। उसी प्रकार कहानियां भी जीवन की किसी एक घटना को लेकर उनके मध्य आने वाली विभिन्न समस्याओं का विस्तृत वर्णन करते हुए लिखी जाने लगी। तब से कहानियाँ लम्बी होने लगी। बींसवी सदी के अंतिम दशक से अनेक चर्चित कहानियाँ प्रायः लम्बी ही हैं। जहाँ पर उपन्यास और कहानी के शास्त्रीय भेद को मिटा देने की जैसे कहानीकरों ने ठान ली है। एक-एक कहानी के किताब बनने की प्रक्रिया को देखते हुए लगता है कि कहानी और उपन्यास विधा के बीच 'लघु उपंन्यास' की श्रेणी स्थापित हो गयी है। वैसे लम्बी कहानियों का लेखन क्रम पहले भी था, पर उनका विस्तार आज की कहानियों जैसा नहीं था। जीवन और परिवेश का यथार्थ चित्रण करना कहानी का प्राण है लेकिन सामाजिक परिवर्तनों के कारण कहानी की पुरानी सीमाएं लांघना आज के कहानीकर के लिए आवश्यक हो गया है क्योंकि वह अपनी बात थोड़े में नहीं व्यक्त करना चाहता। वह अपनी बात को विस्तार में खुलकर कहना चाहता है। इस प्रकार कहानी विधा में नयी पीढ़ी के कहानीकारों द्वारा पुरानी पीढ़ी को संकेत देना है कि अनुभवों और घटनाओं की पारस्परिक निर्भरता पहले की तुलना में कहीं ज्यादा बढ़ गयी है। अब किसी यथार्थ घटना का वर्णन करते समय उसकी स्थिति-परिस्थिति,समय तथा इनके माध्यम से अन्य घटनाओं का क्या सम्बन्ध है आदि का वर्णन करना पड़ता है। कहानी विधा में यकायक परिवर्तन नहीं हुआ कि कहानीकार की इच्छा हुई और वह कुछ भी लिखता चला गया। इसके पीछे अख़बारी पत्रिकारिता, फ़िल्म, धारावाहिक आदि का कहानी शिल्प विधा पर परोक्ष या अपरोक्ष प्रभाव पड़ा है। फ़िल्म तथा धारावाहिक का समाज पर अधिक प्रभाव पड़ा है। इसी कारण समकालीन कहानीकारों ने कहानी लिखने का नाटकीय अंदाज में अधिक प्रयोग किया है। उदय प्रकाश की अधिकतर कहानियां इसी अंदाज में लिखी गयी। जैसे उनकी कहानी मोहनदास का अनेकों बार मंचन और फिल्म का निर्माण हो चुका है। यही नहीं अधिक लोकप्रियता के कारण कई भाषाओं में इसका अनुवाद भी हो चुका है।

लम्बी कहानी का समय कब से माना जाय इसका कोई निश्चित समय नहीं है लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा की इसकी शुरुआत आजादी के बाद हुई। नई कहानी आन्दोलन के प्रवर्तक निर्मल वर्मा ने ग्यारह लम्बी कहानियों का संकलन निकला जिसमें परिंदे (1955) कहानी को लम्बी कहानी के रूप में माना है। इसलिए नई कहानी आन्दोलन से ही लम्बी कहानी की विकास यात्रा को मानना चाहिए। परन्तु जिसके प्रभाव के कारण लम्बी कहानियां लिखी जाने

लगी वे लम्बी कवितायें थीं। जो आजादी के बाद ही लिखी जाने लगी थी, लेकिन कुछ कविताएँ आजादी के पहले भी लिखी जा चुकी थी जैसे 'राम की शक्ति पूजा'। अधिकतर लम्बी कविताएँ आजादी के बाद ही लिखी गयी। उसी के प्रभाव के कारण लम्बी कहानियाँ लिखी जाने लगीं। डा.पुष्पा वंसल का मानना है कि लम्बी कहानी को कुछ पहले से ही स्वीकृति मिलने लगी थी विशेष रूप से 1977 के आसपास। पुष्पा वंसल ने अपने शोधपत्र 'हिन्दी कहानी की नवीन विधा : लम्बी कहानी' में कहानी, उपन्यास, लघु उपन्यास और लम्बी कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये लम्बी कहानी की भिन्नता को उदाहरण सहित स्पष्ट किया है। लगभग इसी समय केआसपास से लम्बी कहानियां लिखी जाने लगी। जिसमें दूधनाथ सिंह 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे','निष्कासन', कृष्णा सोबती 'ऐ लड़की', अखिलेश 'जलडमरुमध्य','शापग्रस्त' शिवमूर्ति 'तिरिया चरित्र' 'कुच्ची का कानून', संजीव 'पाँव तले दूब' अरुण प्रकाश 'भैया एक्सप्रेस', स्वयं प्रकाश 'बलि', जितेन्द्र भाटिया 'अगले अँधेरे तक' उदय प्रकाश 'पीली छतरी वाली लड़की', 'मोहनदास', का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

अभी तक लम्बी कहानी के स्वरूप में हो रहे परिवर्तन और उसका आरंभ कहाँ से माना जाय इसके विषय में बताया गया। लेकिन प्रमुख विवाद का विषय यह है कि लम्बी कहानी का निर्धारण किस आधार पर किया जाय। इसके लिए पृष्ठों की संख्या या उसके बदलते हुए शिल्प स्वरूप के आधार पर या दोनों को ध्यान में रखना होगा। लंबी कहानी और कहानी के विषय में गोपालराय का कहना है –"कहानी और लंबी कहानी की शिनाख्त करने का भी एक आसान नुख्सा निश्चित किया जा सकता है। आकर की दृष्टि से लंबी कहानी की अधिकतम शब्द संख्या 15000 और न्यूनतम शब्द संख्या 4000 के आसपास हो सकता है। प्रकृति की दृष्टि से कहानी में कथा के दिक् और काल के आयाम के विकास के लिए गुंजाइश नहीं होती। एक अच्छी कहानी में संवेदना या तनाव का कोई क्षण ही चित्रणीय होता है, यद्यपि उसके इर्द गिर्द किसी एक पात्र या अधिक से अधिक दो-तीन पात्रों के बाह्य और मानसिक कार्यकलाप नियोजित किये जा सकते हैं। लंबी कहानी में संवेदना या तनाव का क्षण विस्तारित हो सकता है। यही चीज उसे कहानी से अलग करती है। लंबी कहानी में कथा का दिक् और काल में विकास संभव नहीं होता। आकार की दृष्टि से कहानी का विस्तार 1000 से 3000 हजार शब्दों के बीच रखा जा सकता है।"[1] जिस तरह से गोपालराय जी ने शब्द संख्या के आधार पर कहानी और लंबी कहानी का निर्धारण किया है उसके अनुरूप देखा जाय तो कभी-कभी कहानी का जो शिल्प है उसके अनुरूप न लिखा गया हो और खाना पूर्ती के लिए पृष्ठों की संख्या भर दी गयी हो।इसलिए हमें पृष्ठों की संख्या और उसके शिल्प स्वरूप दोनों पर ध्यान देना होगा पहल पत्रिका-106 जनवरी अंक में देखा गया कि कहानीकार मनोज रूपड़ा की कहानी 'अनुभूति' और कहानी लेखिका प्रज्ञा की कहानी 'मन्नत टेलर्स' की कहानी को पृष्ठों की अधिकता के कारण लम्बी कहानी के नाम से प्रकाशित हुई। जबकि इसी पत्रिका के दूसरे अंक में कम पृष्ठों वाली कहानी को कहानी नाम से प्रकाशित हुई है। अतः पृष्ठों की अधिकता को ही देखकर ही लम्बी कहानी नाम दिया जाता है। परन्तु आलोचक को पृष्ठों की संख्या और शिल्प दोनों पर ध्यान देना होगा तभी जा करके लम्बी कहानी के साथ निर्णय हो सकता है।

संदर्भ सूची

1. ग्यारह लम्बी कहानियाँ, निर्मल वर्मा, भूमिका, प्रकाशन-भारतीय ज्ञानपीठ

2. हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, सुरेन्द्र चौधरी, हिंदी कहानी:रचना प्रक्रिया 3, तारा प्रेस पटना-7, प्रथम संस्करण- 1963, पृष्ठ संख्या-71

3. हिंदी कहानी का इतिहास 1900-1950, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-36

जनकृति [बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका] ISSN: 2454-2725 IMPACT FACTOR: 2.0202 [GIF]

विष्णु प्रभाकर के कथा साहित्य के सांस्कृतिक आयाम

(संस्कार, निशिकांत (उपन्यास) और आश्रिता (कहानी) के विशेष सन्दर्भ में)

केवल कुमार
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

सांस्कृतिक आयाम मनुष्य जीवन का आधार हैं क्योंकि संस्कारजन्य व्यवहार अथवा स्वभाव को 'संस्कृति' कहते हैं। ये मानवीय व्यक्तित्व की वह विशेषता है, जो उस व्यक्तित्व को एक विशिष्ट अर्थ में रेखांकित करती है। संस्कृति और जीवन का अटूट संबंध है। संस्कृति मनुष्य-जीवन को परिष्कृत कर सभ्य बनाती है। एक नदी जिस प्रकार विभिन्न तरह की घाटियों, वादियों को पार करती हुई जलती-तपती और बंजर प्यासी भूमि को शीत करती हुई, ऊबड़- खाबड़ धरती की अनेकों बाधाओं को दूर करती हुई अपने परम लक्ष्य, सागर में मिलने के लिए आगे बढ़ती है, उसी प्रकार संस्कृति अनेक प्रकार के टकरावों से गुजरती हुई अपने लक्ष्य मानवीय- जीवन के परिष्कार की ओर बढ़ती है। मनुष्य की प्रवृत्ति पशुता की होती है। उसे इस पशुता की प्रवृत्ति से ऊपर उठाकर परिष्कृत कर सभ्य बनाने का नाम ही संस्कृति है। इसीलिए मनुष्य-जीवन का सीधा संबंध संस्कृति से है।

संस्कृति सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। मनुष्य-जीवन की निरन्तर विकास की प्रगतिशील परम्परा में आए हुए, अपने महत्त्व का प्रकटीकरण करने वाले वे गुण अथवा विशेषताएँ जिन्हें आने वाली पीढ़ी अपने संस्कार, अपने विचार, अपनी आस्था और दैनिक क्रिया-कलापों के साथ जोड़कर अपना जीवन-यापन करती है, वह उसकी संस्कृति है। ऐसे संस्कृति हमारे समूचे जीवन में व्याप्त हो जाती है और हमेशा प्रभावित करती है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन संस्कृति के विभिन्न आयामों या उपांगों के साथ किसी-न-किसी रूप में जुड़ा रहता है। इस प्रकार सांस्कृतिक आयाम भी मानवीय-जीवन का आधार बन जाते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने जीवन और साहित्य में से पीछे छोड़ विकास नहीं कर सकता है।

हिंदी कथा-साहित्य का क्षेत्र, स्वरूप अत्यंत विराट है और इसी कथा-साहित्य की यशस्वी परम्परा के लेखकों की गणना में **विष्णु प्रभाकर** का नाम भी आता है। प्रभाकर ने उपन्यास, कहानी, नाटक, जीवनी, एकांकी, बाल-साहित्य इत्यादि विविध विधाओं पर लेखनी चलायी है। विष्णु प्रभाकर कहानीकार रूप में उपन्यासकार रूप से अधिक बलवान है। उनकी साहित्यिक प्रतिभा के विषय में **सुभाष रस्तोगी** लिखते हैं, "विष्णु जी बहुआयामी प्रतिभा के साहित्यकार हैं और उनकी साहित्य साधना को किसी एक विधा अक सीमित नहीं किया जा सकता। यह उनकी विनम्रता ही है कि जो वे अपने आपको मूलतः कथाकार मानते हैं। अन्यथा एक नाटककार के नाते उनका अवदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।"[li]

कहानी की अपेक्षा विष्णु प्रभाकर के उपन्यासों में जीवन का व्यापक फलक पर चित्रण हुआ है। अपने कथा-साहित्य के सबसे हटकर विषय-वस्तु तथा चरित्र-चित्रण के लिए पहचाने जाने वाले प्रभाकर का साहित्य सांस्कृतिक आयामों से लसित है। सांस्कृतिक आयामों को अपने साहित्य में स्थान देकर जीवन की अभिव्यक्ति का अंग बनाने वाले लेखकों में विष्णु प्रभाकर का विशिष्ट महत्त्व है। सम्पूर्ण लेखन बेहतर समाज के भविष्य की चिन्ता से की ओर प्रेरित है। उनका साहित्य आम-आदमी के सुख-दुख, संघर्ष, तनाव और उलझनों से भरा पड़ा है। जिसका रूप कहानियों से विशिष्ट ढंग से प्रस्तुत हुआ है, "प्रभाकर की कहानियां जीवन के विविध रंगों, तनावों, संघर्षों और साम्प्रदायिक विद्वेष के दर्द से उपजी कहानियाँ हैं और उनकी कहानियों में 1930 से 2003 तक का भारत समाया है।"[lii]

प्रभाकर का साहित्य सामाजिक सरोकारों एवं ज्वलंत समस्याओं की गूंजों से भरा पड़ा है इसके साथ

ही भारतीय संस्कृति से विशेष रूप से जुड़ा होने के कारण सांस्कृतिक आयामों को संजोये हुए है। प्रभाकर के कथा-साहित्य के सांस्कृतिक आयामों पर चर्चा से पहले संस्कृति और सांस्कृतिक आयामों पर चर्चा करना समाचीन होगा :-

'संस्कृति' का शब्दगत अर्थ :-

संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुई है। संस्कार से अभिप्राय संशोधन अथवा उत्तम बनाने वाले कार्य से है। इसी अर्थ में 'कृ' का 'स्कृ' हो जाता है।[liii] संस्कृति शब्द 'संस्कार' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है-शुद्ध करना, परिष्कृत करना।

डॉ. मदन गोपाल गुप्त संस्कृति शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं, "संस्कृति शब्द का तात्पर्य तीन अर्थों से स्पष्ट होता है- व्युत्पत्तियार्थ, कोशगत अर्थ और व्यावहारिक अर्थ। व्युत्पत्ति के अनुसार संस्कृति का अर्थ परिष्कार अथवा परिमार्जन की क्रिया अथवा सम्यक कृति है। संस्कृति को अंग्रेजी में 'कल्चर' शब्द का पर्याय भी माना जाता है, जहाँ वह मूलतः 'उपासना' या 'जोतना' अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, प्रयोग की दृष्टि से 'संस्कृति' शब्द प्राचीन काल से वैदिक वांग्मय में प्रयुक्त हुआ है, जबकि 'कल्चर' का प्रयोग संस्कृति के अर्थ में अंग्रेजी साहित्य में सन 1920 में सर्वप्रथम मिलता है।"[liv] **भारतीय संस्कृति कोश** में संस्कृति को परिभाषित करते हुए इसका अर्थ स्पष्ट किया है, "सामान्य व्यवहार में 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों का बहुधा समान अर्थों में प्रयोग दिखाई देता है। पर स्थिति ऐसी नहीं है। संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जो व्यक्तित्व को समृद्ध और परिष्कृत बनाते हैं। चिंतन और कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएं संस्कृति में आती हैं, जो मानव जीवन के लिए प्रत्यक्ष में उपयोगी न दिखाई देने पर भी उसे समृद्ध बनाती हैं। इसमें शास्त्र और दर्शन का चिंतन, साहित्य, ललित कलाएँ आदि का समावेश होता है।"[lv]

संस्कृति की विभिन्न परिभाषाएँ :-

संस्कृति शब्द किसी एक ही वस्तु या स्थिति का बोधक नही है, वह किसी देश, जाति या समाज की समस्त परम्पराओं और विरासतों का बोधक है। इसलिए संस्कृति को शब्दों की किसी एक निश्चित सीमा में बाँधकर इसकी व्याख्या कर पाना हमेशा से एक कठिन कार्य रहा है। संस्कृति बाह्य रूप या क्रिया मात्र नहीं, वह मनुष्य के आन्तरिक गुणों का समूह है। किन्तु विभिन्न विचारकों एवं साहित्यकारों ने विविध रूपों में संस्कृति को परिभाषित किया है, इस दिशा में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जो सफल प्रयत्न किये हैं, वह इस प्रकार हैं :-

विष्णु प्रभाकर संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "मनुष्य अपनी बुद्धि के माध्यम से विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को संस्कृति कहते हैं।"[lvi] प्रभाकर ने मनुष्य की कुशल सृजनशीलता को संस्कृति कहा है।

रामजी उपाध्याय के अनुसार, "मानव स्वभावत: अपनी या प्रकृति की किसी रचना को पूर्ण मानकर सन्तोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही उसे अधिक पूर्ण या सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता रहा है। सुन्दर बनाने, सुधारने और पूर्ण बनाने के प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौन्दर्य-भावना के विकास का परिचय देते हैं। मानव का यही विकास संस्कृति है। संस्कृति का अर्थ सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है।"[lvii]

मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार, "किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति हैं। जिनसे समाज और राष्ट्र परिचित होता है।"[lviii]

ई. बी. टेलर के अनुसार, "उन सभी वस्तुओं के समूह को जिनमें ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, नैतिक कानून, परम्पराएँ तथा वे सभी अन्य योग्यताएँ सम्मिलित होती हैं तथा जिन्हें कोई मनुष्य समाज का

सदस्य होने के नाते सीखता है, संस्कृति कहते हैं।"[lix]

उपर्युक्त परिभाषाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि संस्कृति मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य रूप का शुद्धिकरण करती है। संस्कृति वह तत्त्व है, जो मनुष्य को परिष्कृत, विवेक सम्पन्न और उदार बनाती है।

सांस्कृतिक आयाम :-

हिंदी की साहित्यिक और शोधपरक समीक्षाओं में आज 'आयाम' शब्द अंग्रेजी के डाइमेन्शन शब्द के हिंदी समानक के रूप में बहुप्रचलित हो चुका है। इसके अर्थ मुख्यत पक्ष, प्रकार, रूप आदि लिए जाते हैं। संस्कृत हिंदी शब्दकोश में आयाम शब्द के अर्थ में "लम्बाई, प्रसार, विस्तार, फैलाना, विस्तार करना, नियंत्रण, रोकथाम"[lx] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। डॉ. हरदेव बाहरी द्वारा सम्पादित अंग्रेजी हिंदी शब्दकोश में "आयाम शब्द को 'डाइमेन्शन' के अर्थों में प्रयुक्त करते हुए इसका अर्थ 'आकार' तथा 'विस्तार' माना गया है।"[lxi]

अत: कहा जा सकता है कि आयाम शब्द का प्रयोग विस्तार करना, आकार देना, प्रकार एवं पक्ष आदि के अर्थों में किया जाता है।

सांस्कृतिक शब्द के संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर में रामचन्द्र वर्मा ने "संस्कृति से संबंध रखने वाला या संस्कृति संबंधी"[lxii] अर्थ दिया हैं। संस्कृति के जिन विभिन्न आयामों, प्रकारों या पक्षों से हम संस्कृति का अध्ययन, मनन या विश्लेषण करते हैं, उन पक्षों या आयामों को हम सांस्कृतिक आयाम कहते हैं। संस्कृति मानव समाज का दर्पण है और सांस्कृतिक आयाम उसके अध्ययन का माध्यम।

विष्णु प्रभाकर के कथा सहित्य के सांस्कृतिक आयाम :-

भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तो एक युगप्रवर्तक साहित्यकार प्राप्त होता है। भाव में कोई मार्मिक परिष्कार लाना, ज्ञान में कुछ सर्वथा नवीन जोड़ना अथवा कर्म में कोई नवीन लक्ष्य देना, अपने आप में एक बड़ा कार्य है। 'मानवता को अपने लेखन का धर्म मानने वाले विष्णु जी ऐसे ही साहित्यकार हैं। वे किसी वाद के घेरे में नहीं बंधते, वे शुद्ध विष्णुवादी हैं।'[lxiii] जिनकी कलम का आधार केवल मानवीय मूल्यों की व्याख्या करना रहा है। "प्रभाकर जी भारतीय संस्कृति के व्याख्याता हैं, जिन्होंने अपने सत् साहित्य के माध्यम से मानवीय मूल्यों की स्थापना की है। अशुभ के चित्रण में भी कितनी शुभ की संभावनाएँ है, यह खोज ही प्रभाकर का साहित्य है।"[lxiv] प्रभाकर जी का साहित्य अपने युग के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन का दर्पण है। भले नारी की व्यथा हो या मध्यवर्ग में नैतिक मूल्य हों, प्रभाकर की लेखनी नें मनुष्य के भीतर निहित सद्प्रवृतियों की तलाश की है। यही तलाश कभी उपन्यास तो कभी कहानी के माध्यम से व्यक्त हुई है।

जहाँ एक ओर प्रभाकर ने उपन्यास और कहानियों में समाज का यथार्थ चित्रण किया है वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक-आयाम प्रभाकर के साहित्य का मूल तत्त्व बनकर उभरे हैं। प्रभाकर की नैतिकता में विशिष्ट आस्था रही, यही कारण रहा कि इन्होंने अपने साहित्य में नैतिक-मूल्यों को विशेष स्थान दिया है। नैतिक-मूल्य समाज का आधार स्तम्भ होते हैं इस बात से हम भली- भाँति परिचित हैं, जिस समाज के नैतिक-मूल्यों में गिरावट आ जाती है, वह समाज पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। प्रभाकर ने अपने साहित्य में लज्जा, ग्लानि, क्षमा, दान, त्याग, नैतिकता, कर्तव्यपालन और शिष्टाचार जैसे नैतिक-मूल्यों का वर्णन किया है। 'संस्कार' उपन्यास में **क्षमाशीलता** का वर्णन करते प्रभाकर लिखते हैं, "मैं तुमसे कोई शिकायत नहीं करना चाहती। यदि तुम्हें ऐसा लगा कि

मैं तुम पर दोषारोपण कर रही हूँ तो तुम मुझे क्षमा कर देना।"[lxv] इस कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि पत्नी अपने पति से उस दोषारोपण के लिए भी क्षमा माँगती है जो उसने किया भी नहीं है, ऐसा कर्म तो भारतीय-संस्कृति से ओत-प्रोत एक भारतीय नारी ही कर सकती है। 'आश्रिता' कहानी में भी **लज्जा** का वर्णन प्रभाकर ने इस प्रकार किया है, "मास्टर साहब ! जिसके आवरण के नीचे आकर मैंने अनाथों की भांति लाड-दुलार पाया, जिसकी ओर देखकर मैंने अपने हृदय को उमड़ते देखा, उसी के ....ओह। उसी के सामने अपना आवरण कैसे हटाती।"[lxvi] इस प्रकार प्रभाकर ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में नैतिक-मूल्यों को विशेष स्थान दिया है।

प्राचीन भारत में मानव समाज चार वर्णों में विभक्त था। 'परम्परा के अनुसार ब्रह्मा ने इस सृष्टि के आदि में ब्राह्मणों को उत्पन्न किया था। किन्तु धीरे-धीरे वे अपने स्वभाव और कर्मों के अनुसार चार वर्णों में विभक्त हो गये-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जब समस्त समाज का विभाजन इन चार वर्णों में हो गया, उस समय भारतीय मनीषियों को ध्यान आया कि कहीं यह विभाजन जन मानस के लिए अभिशाप न सिद्ध हो, अत: चारों वर्णों को ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अव्यव बतलाकर आन्तरिक रूप से सभी को पुन: एक में समाहित करने का प्रयास किया।'[lxvii] यही वास्तव में भारतीय समन्वयवादी तथा उदारवादी दृष्टिकोण है। युगों की इस लम्बी यात्रा में कुछ स्वार्थवादी तत्त्वों ने इस कर्माश्रित व्यवस्था को अपने लाभ के लिए वर्णाश्रित व्यवस्था के रूप में परिवर्तित कर दिया और यह अपने इस विकृत रूप में समाज में व्याप्त हो गई। वर्तमान समय में यही वर्ण व्यवस्था के रूप में समाहित है।

प्रभाकर भारतीय समाज के उज्ज्वल सूर्य के डूबने का कारण इसी जातिगत वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं। अपने उपन्यासों में इस जातिगत वर्ण व्यवस्था का विरोध किया है और इसका वर्णन 'संस्कार' में करते हैं, "तुम अपने आप को ऊँची जाति का मानती हो, तुम ऊँची जाति के लोग कैसे-कैसे झूठे सपनों में खोये रहते हो, कैसे-कैसे झूठे आदर्शों के नीड़ बनाये हैं तुमने।"[lxviii]

उपन्यास का कथानक नारी को सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए बहुत संघर्षमयी परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है। नारी को बन्धनों से मुक्त कर समाज रूपी आसमान में पक्षी की तरह विचरता देखना प्रभाकर के जीवन का लक्ष्य है, जिसको प्राप्त करने का प्रयत्न उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से किया है। 'संस्कार' में घर के बन्धनों से मुक्त होकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आदमी के कंधे से कंधा मिलाकर काम करती नारी का चित्रण किया है, जिसका स्पष्टीकरण उपन्यास का यह कथन देता है, "मैंने मिट्टी भी उठायी, क्योंकि मैं अनुभव करना चाहती थी कि दिन भर मिट्टी ढोनेवाली नारियाँ, जो हारी बीमारी की चिन्ता नहीं करती, जो अपने घायल पैरों की ओर देखती भी नहीं, जो चादर में मुँह लपेटे. सिर पर मिट्टी की टोकरी धरे, धीरे-धीरे गुनगुनाते हुए, पुरुष को मुस्कराते देखकर मुस्कराती हुई बड़ी तेज़ी से आती-जाती, वे सब कैसे अनुभव करती हैं।"[lxix]

इसके अलावा प्रभाकर ने सामाजिक-जीवन में मिलने वाले विभिन्न रीति-रिवाज, संस्कार, उत्सव-पर्व, पारिवारिक संबंध, विवाह संस्था आदि अनेक पक्षों का कुशलतापूर्वक वर्णन किया है। इस प्रकार प्रभाकर का साहित्य सामाजिक पक्ष की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का साहित्य है।

धर्म भारतीय संस्कृति के चार पुरुषार्थों में से प्रथम पुरुषार्थ है। भारतीय संस्कृति का भूषण आध्यात्मिकता है तथा धर्म उसका केन्द्र बिन्दु है। धर्म हमें आवश्यक आध्यात्मिक पोषण देता है। धर्म संस्कृति का मूल है। धर्म मनुष्य को दिव्यता के पथ पर ले जाता है जो उसकी आत्मा को निर्मल एवं अंत: करण को शुद्ध बनाता है। धर्म संस्कृति के क्षेत्र में अपना नैतिक पक्ष उद्घाटित करता है। धर्म का उद्देश्य

मानव चित्त-वृत्तियों को ऊँचा उठाने और श्रेष्ठतम बनाने में सहायक सिद्ध होना है। हमारी संस्कृति धार्मिक-मूल्यों से ओत-प्रोत है। यहाँ धर्म को जीवन-मूल्य के रूप में लिया जाता है, इसलिए भारत धर्म के अम्बार वाला देश है। धर्म साहित्य और संस्कृति के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। प्रभाकर ने अपने साहित्य में धर्म और धार्मिक पक्ष का यथार्थ वर्णन किया है। धर्म में अंध आस्था कभी-कभी धार्मिक साम्प्रदायिकता और भेद-भाव का कारण बन जाती हैं। प्रभाकर ने अपने पहले उपन्यास का आधार भी इसी धार्मिक साम्प्रदायिकता और भेद भाव की भावना को बनाया है। 'निशिकांत' उपन्यास भी धार्मिक कट्टरवाद पर आधारित है। यह कथन स्पष्ट करता है, "साँझ को जैसे ही मैंने पानी पीने का घड़ा उठाकर अंदर रखा तो वह (मालिक) एकबारगी लाल-पीले हो उठे- तूने यह क्या किया बे ! हिन्दु बन गया तो क्या हमारा धर्म बिगाड़ेगा। निकल जा यहाँ से। खाने को नहीं मिलता तो हिन्दु बन जाते हैं।"[lxx] यह कथन जातिगत भेद-भाव को भी स्पष्ट रूप से दर्शाता है।

प्रभाकर के उपन्यास में समाज में फैले धार्मिक-सामाजिक अंधविश्वासों का चित्रण भी किया है। प्रभाकर ने आधुनिक समय में उत्तर भारत के छोटे गाँवों में प्रचलित अंधविश्वासों का चित्रण किया है। प्रभाकर ने उन अंधविश्वासों को उकेरा है जो केवल शुभ-अशुभ के आधार पर समाज में प्रचलित हैं। आधुनिक समय में विधवा स्त्री के प्रति किये जाने वाले अंधविश्वासों का चित्रण किया है। जैसे एक विधवा स्त्री का नवविवाहित जोड़ी के सामने आना अशुभ और धार्मिक विश्वासों का उल्लंघन माना जाता है, इसी अंधविश्वास का स्पष्टीकरण यह कथन करता है, "लड़की ने सहसा दृष्टि उठाकर एक बार अपनी बड़ी भावज की ओर देखा। निमिष-मात्र में उसका मुँह पीला पड गया। वह एकदम उस भीड़ में से तीर की तरह भागी हुई चली गयी। हक्की-बक्की मैं उसे देखती रह गयी। मैंने पूछा, "क्या बात है?"

बड़ी भावज ने सहज भाव से उत्तर दिया, "वे नयी बहु के सामने नहीं आ सकती।"

"क्यों"

वह धीरे से बोली, "बेचारी विधवा जो ही गयी है।"[lxxi]

इसके अलावा श्रद्धा एवं भक्ति, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, आस्तिकता एवं धर्मनिष्ठा, धार्मिक आडम्बर एवं अंधविश्वास आदि धार्मिक-पक्ष प्रभाकर के साहित्य में देखने को मिलते हैं।

समाज और संस्कृति को प्रभावित करने का एक बड़ा कारक राजनीति है। समाज और राजनीति परस्पर आश्रित हैं। राजनीति राष्ट्र-सेवा का एक माध्यम है जो देश को विकास की तरफ ले जाता है, किन्तु आज का सार्वजनिक नेता राष्ट्रसेवी के स्थान पर आत्मसेवी हो गया है। राजनीति के ऐसे दूषित हालातों में सामाजिक परिवर्तन लाना साहित्यकार का कर्तव्य बन गया है। ऐसे साहित्यकारों में विष्णु प्रभाकर का नाम सर्वश्रेष्ठ है। विष्णु प्रभाकर ने राष्ट्रीय समस्याओं और राजनीति पर सफल कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। राजनीतिक हलचल से उत्पन्न दंगों का सशक्त उदाहरण है 'निशिकांत' उपन्यास। इस उपन्यास के विषय में डॉ० रस्तोगी लिखते हैं, "यह उपन्यास लेखक के 1920 से 1939 तक के जीवनानुभवों और उस समय की देश की परिस्थितियों का आईना बनकर सामने आया है। इसमें तद्युगीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक पोंगापंथी और जड़ता पर सवालिया निशान लगाए हैं।"[lxxii]

निशिकांत उपन्यास में राष्ट्रीयता की भावना और राज्य व्यवस्था के खिलाफ़ आक्रोश के स्पष्ट दर्शन मिलते हैं क्योंकि सरकार की तरफ से निकला नोटिस निशिकांत के क्रोध की आग को जला देता है तथा उसकी राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत हो जाती है। जिसका स्पष्टीकरण यह कथन है, "सरकारी नोटिस में लिखता था, "सरकारी नौकर का किसी राजनीतिक सभा में जाना और किसी राजनीतिक नेता नेता से

किसी प्रकार का संबंध रखना वर्जित है। उन्हें यह आदेश दिया जाता है कि यदि उनके निकटतम संबंधी पिता, पुत्र अथवा भाई आदि सत्याग्रह में भाग लेते हैं तो वे उनसे सब संबंध तोड़ ले।"[lxxiii] इसके आलावा प्रभाकर के सभी उपन्यासों में राजनीति के विविध पक्ष उभर कर सामने आते हैं। प्रभाकर की कहानियाँ जैसे हिन्दु, दीप जले, बेटे की मौत, भाई साहब, तीन तरीखें आदि में राजनीति का शिष्ट रूप देखने को मिलता है।

मनुष्य ने जिस दिन से सोचना आरम्भ किया उस दिन से ही दर्शन का उदय माना जा सकता है। दर्शन विचारों की ऐसी परम्परा है, जो धर्म के समान मानव को उन्नत, श्रेयस्कर बनाती हुई संसार के समस्त बंधनों से मुक्त करती है और आत्मा या ब्रह्म का साक्षात्कार करती हुई उसे परम सुख एवं परम शांति प्रदान करती है। यूनान के बाद भारत दर्शन के क्षेत्र में उन्नति करने वाला प्रमुख देश है। भारतीय दर्शन ने भारतीय साहित्य को बहुत प्रभावित किया है और आदिकालीन साहित्य से ही दर्शन भारतीय साहित्य का वर्णन विषय रहा है।

प्रभाकर के उपन्यास में दीपू के माध्यम से एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो लाख बुरे काम करने के बाद भी अपने अन्तर्मन में मानवता के भाव को संजोये है, जो समय पर उनके सभी बुरे कार्यों के ऊपर आकर उसे मानवता के भाव से कार्य करने पर विवश करती है, जिसका स्पष्टीकरण यह कथन है, "दीपू तत्परता से बोला, "नहीं, यह कभी नहीं होगा। मैंने चाहे जितने भी बुरे काम किये हों, लेकिन मैं माँ को उसके बच्चे से अलग नहीं करूँगा।"[lxxiv]

इसके अलावा उपन्यास में मानवता की भावना को अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रकट किया है। मानवता की भावना किसी घटना के कारण उभर कर सामने आने के पक्ष को भी स्पष्ट किया है। उपन्यास में इस तथ्य को प्रस्तुत किया गया है कि किस प्रकार एक अमानवीय व्यक्ति का अमानवीय व्यवहार मानवता की भावना से भर पश्चाताप की सीमा तक पहुँचता है, जिसका प्रमाण यह कथन है, "दीपू ने कहा "भाभी भैया को न जाने क्या हुआ, तुम्हें देखकर उनकी आँखों में आंसू आ गए और तब उन्होंने अपनी जेबें टटोलनी शुरू की। नोट, रुपए, खरीज जो कुछ था, वह सब तुम्हारी झोली में डाल दिया।"[lxxv]

प्रभाकर ने उत्तर भारत के छोटे गाँवों के समाज का चित्रण किया है। उत्तर भारतीय लोग हमेशा से ही आशावादी रहे हैं, उत्तर भारत आक्रमणकर्ताओं के लिए प्रवेश द्वार रहा है जिसके कारण बिगड़ते हालातों में आशावादी दृष्टिकोण ने ही इन लोगों को थामे रखा है। जिस कारण प्रभाकर के उपन्यास में हमें आशावादी दृष्टिकोण के कई दृष्टांत देखने को मिलते हैं। उपन्यास में एक ऐसी स्त्री का चित्रण किया है जो पूर्ण रूप से पत्नी न बन सकी। जिसे आशा है कि किसी दिन उसे यह सौभाग्य प्राप्त होगा, उसी स्त्री के आशावादी दृष्टिकोण को यह कथन स्पष्ट करता है, "दीनू मेरे पास इसलिए आया था कि मैं उसके साथ चलूँ और पहले की तरह मजदूरों की देखभाल करूँ। मैंने उसकी सारी बातें सुन ली और फिर सिर हिलाकर जोर से हँस पड़ी। बोली, "यह कैसे हो सकता है? न, अब मैं कहीं नहीं जाऊँगी। हो सकता है कि किसी दिन वे यहां फिर आएँ। कम-से-कम इतना विश्वास तो मुझे है ही कि मेरे मरने पर वे मेरी माँग में सिन्दूर भरने के लिए अवश्य आएँगें।"[lxxvi]

मनुष्य ने सृष्टि के आदिकाल में ही जब से पशु सुलभ वृत्तियों से ऊपर उठने के प्रयास आरम्भ किये थे, उसी समय उसने अपने दैनिक जीवन यापन के आवश्यक साधनों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इन कार्यों में कृषि, पशु-पालन और शिकार महत्त्वपूर्ण थे। फिर मनुष्य ने अपने को कबीलों में परिवर्तित कर सामाजिक जीवन की आधारशिला रखी तो उसकी अनेक आवश्यकताओं ने उसे लेन-देन के

कार्य में प्रवृत कर दिया। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में आर्थिक क्रिया व्यापार ने अपना स्थायी महत्त्व बना लिया। विकसित समाज के मजबूत ढांचे का अर्थ एक सशक्त आधार स्तम्भ है इसीलिए भारतीय संस्कृति में भी अर्थ को दूसरा पुरुषार्थ माना है। अर्थ संस्कृति का अभिन्न अंग होने से साहित्य में अनायास ही प्रविष्ट हो जाता है। प्रभाकर ने अपने जीवन में आर्थिक विषमता को झेला था। आर्थिक विषमता ने उनके मन में आर्थिक एवं सामाजिक समानता उत्पन्न करने की चाह प्रबल कर दी जो उनके साहित्य में हमें देखने को मिलती है। विष्णु प्रभाकर की 'भय और कुलीनता', 'लांपपोस्ट के नीचे लाश', 'सुनो ओ माँ', 'द्वन्द', 'माँ की ममता', 'मुक्ति की राह', 'एक माँ एक देश', 'भूख' आदि कहानियों में अर्थ संबंधी अभाव एवं उसके फलस्वरूप उत्पन्न गरीबी, अकाल आदि का वर्णन किया है।

साहित्यकार का चिन्तन बहता जल है, जिसके स्पर्श से जीवन के बिखरे अनुभवों के छोटे-छोटे कण मिलकर विविध विधाओं में अपने स्वरूप को प्राप्त करते है। विष्णु प्रभाकर एक सजग साहित्यकार हैं, जिन्होंने गद्य की प्रत्येक विधा में सशक्त लेखनी चलाई है। सम्पूर्ण साहित्य जीवन के प्रत्येक कोने को इस प्रकार स्पर्श करता है कि के कल्पना के नहीं अपितु जीवन के साहित्यकार हों। "उनकी भाषा सीधी-सादी और सरल है। वे स्वतंत्र रूप से लेखन करते हैं, इसलिए हम उन्हें किसी भी धारा के साथ जोड़ नहीं सकते न ही उनकी तुलना अन्य लेखकों से कर सकते हैं क्योंकि उनके कथा-साहित्य का सामाजिक सन्दर्भ उन्हें अतिरिक्त शक्ति से सम्पन्न करता है।"[lxxvii]

विष्णु प्रभाकर ने भोगे हुए यथार्थ का चित्रण करते हुए आदर्शों की स्थापना की है। प्रभाकर ने अपने साहित्य में शिक्षा, संस्कृति, नारी, साहित्य, समाज और धर्म संबंधी दृष्टिकोणों में मानवीय मूल्यों की कहीं अपेक्षा नहीं की है। सच्चे मनुष्य की खोज ही उनके साहित्य का लक्ष्य है। विष्णु प्रभाकर को प्रेमचंद और निराला की श्रेणी में मानते हुए डॉ. रस्तोगी लिखते हैं, "उनका साहित्य उनके जीवन का प्रतिरूप है। उनके व्यक्ति और साहित्यकार में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। वास्तव में यह एकरूपता ही किसी साहित्यकार को अमर बनाती है। व्यक्तित्व और कृतित्व की यह एकरूपता निराला और प्रेमचंद में थी।"[lxxviii]

---

[i] https://www.jagran.com/editorial/apnibaat-cinema-literature-and-hindi-12885232.html

[ii] भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन, डॉ. अंजना, पृ.166

[iii] दलित महिलाएं इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस. विक्रम, पृ.203

[iv] दलित महिलाएं इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस. विक्रम, पृ.205

[v] दलित महिलाएं इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस. विक्रम, पृ.203

[vi] दलित महिलाएं इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस. विक्रम, पृ.54

[vii] दलित महिलाएं इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस. विक्रम, पृ.55

[viii] दलित महिलाएं इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस. विक्रम, पृ.55

[ix] भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920 – 2000), डॉ. अंजना, पृ.168

[x] भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920 - 2000), डॉ. अंजना, पृ.168

[xi] हिन्दी दलित साहित्य आंदोलन, सरोज पगारे, पृ.30

[xii] भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920 - 2000), डॉ. अंजना, पृ.170

[xiii] दलित महिलाएं इतिहास, वर्तमान और भविष्य, पृ.संपादकिय-25

[xiv] स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण, रमिका गुप्ता, विमल थोरात, पृ.70

[xv] बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खंड-7, पृ.333

[xvi] बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खंड-7, पृ.334

[xvii] दलित महिलाएँ इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस.विक्रम, पृ.52

[xviii] दलित महिलाएँ इतिहास, वर्तमान और भविष्य, एस.विक्रम, पृ.52

[xix] हाशिए का विमर्श, सुशीला टाकभौरे, पृ.133

[xx] समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन-2, सम्पा. सुशीला टाकभौरे, पृ.105

[xxi] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, अनिता भारती, पृ.282

[xxii] दलित महिलाएं: इतिहास वर्तमान और भविष्य, सम्पा. एस विक्रम, पृ.225

[xxiii] भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920-2000)

[xxiv] 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' – गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ.2

[xxv] 'चाँद का मुँह टेढ़ा है'-पृ.115

[xxvi] नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली-4, राजकमल प्रकाशन, 1980, पृ. 105

[xxvii] 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ. 245-246

[xxviii] 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ. 172-173

[xxix] 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ. 268

[xxx] अशोक वाजपेयी, 'फिलहाल', पृ.124-25

[xxxi] नरेंद्र मिश्र, 'अलंकार दर्पण', निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001, पृ.64

[xxxii] नरेश मिश्र, 'अलंकार दर्पण', निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001, पृ.25

[xxxiii] 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' – संपादकीय, श्रीकांत वर्मा

[xxxiv] 'मुक्तिबोध की कविता की बनावट' – कुँवर नारायण, कविता का अनुवाद

[xxxv] नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पृ.243

[xxxvi] डॉ. बच्चन सिंह, समकालीन हिंदी साहित्य, पृ. 70

[xxxvii] मुक्तिबोध : एक अध्ययन, डॉ. ललिता अरोड़ा, पृ. 178

[xxxviii] गजानन माधव मुक्तिबोध : सृजन और शिल्प – रणजित सिंह पृ. 159

[xxxix] एक साहित्यिक की डायरी-गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ.21

[xl] मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना – नंदकिशोर नवल, पृ. 12

[xli] नेमिचन्द जैन, मुक्तिबोध रचनावली-भाग-4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1980, पृ. 221

[xlii] मुक्तिबोध रचनावली, खंड-दो, पृ. 332

[xliii] मुक्तिबोध रचनावली, खंड-दो, पृ. 370

[xliv] सुरेश ऋतुपर्ण, 'मुक्तिबोध की काव्य सृष्टि', पृ. 108

[xlv] मुक्तिबोध रचनावली, खंड-दो, पृ. 336

[xlvi] मुक्तिबोध रचनावली, खंड-दो, पृ. 117

[xlvii] मुक्तिबोध रचनावली, खंड-दो, पृ. 316

[li] रस्तोगी, डॉ. सुभाष, विष्णु प्रभाकर का साहित्य, पंचकूला, हरियाणा साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण 2003,प्रसंगवश से....

[lii] वही, पृष्ठ 17

[liii] सोती, वीरेन्द्र चन्द्र, भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, नई दिल्ली, राजपाल, संस्करण -1998, पृष्ठ-01

[liv] गुप्त, मदनगोपाल, मध्यकालीन हिंदी काव्य में भारतीय संस्कृति, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, संस्करण-1968, पृष्ठ-02

[lv] पर्वतीय, लीलाधर शर्मा, भारतीय संस्कृति कोश, दिल्ली, राजपाल, संस्करण-2010, पृष्ठ-929

[lvi] प्रभाकर, विष्णु, जन,समाज और संस्कृति, दिल्ली: शब्दकार, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ 21

[lvii] उपाध्याय, रामजी, भारतीय धर्म और संस्कृति, दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन,संस्करण-2012, पृष्ठ-01

[lviii] टंडन, किरण, भारतीय संस्कृति, दिल्ली, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दूसरा संस्करण-2006, पृष्ठ-03

[lix] वही, पृष्ठ-03

[lx] आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिंदी कोश, जयपुर : रचना प्रकाशन, संस्करण 2006, पृष्ठ 156

[lxi] बाहरी, हरदेव, राजपाल अंग्रेजी हिंदी शब्दकोश, नई दिल्ली, राजपाल एंड सन्स, पंचम संस्करण 1993, पृष्ठ 190

[lxii] वर्मा, रामचन्द्र, संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण 2008, पृष्ठ 969

[lxiii] अरोड़ा, डॉ, सुधा, विष्णु प्रभाकर: व्यक्तित्व और कृतित्व, नई दिल्ली : सत्यम पब्लिशिंग हाउस, संस्करण 2012, पृष्ठ 01

[lxiv] वही, प्राक्कथन से, पृष्ठ 8

[lxv] प्रभाकर, विष्णु, संस्कार, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014, पृष्ठ 72

[lxvi] प्रभाकर,विष्णु, सम्पूर्ण कहानियाँ,(आश्रिता खंड), नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन, संस्करण 2008, पृष्ठ 29

[lxvii] अनु, रविकुमार, हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्य की सांस्कृतिक चेतना, जयपुर: पंचशील प्रकाशन, संस्करण 1990, पृष्ठ 102

[lxviii] प्रभाकर, विष्णु, संस्कार, पृष्ठ 98

[lxix] वही, पृष्ठ 46-47

[lxx] प्रभाकर, विष्णु, निशिकांत, दिल्ली : आत्माराम एंड संस, संस्करण 1955, पृष्ठ 61

[lxxi] प्रभाकर, विष्णु, संस्कार, पृष्ठ 46

[lxxii] रस्तोगी, डॉ. सुभाष, विष्णु प्रभाकर का साहित्य, पृष्ठ 46

[lxxiii] प्रभाकर, निशिकांत, पृष्ठ 61

[lxxiv] प्रभाकर, विष्णु, संस्कार, पृष्ठ 86

[lxxv] वही, पृष्ठ 49

[lxxvi] वही, पृष्ठ 97-98

[lxxvii] नायडू, डॉ. राजलक्ष्मी, विष्णु प्रभाकर: व्यक्तित्व और कृतित्व, कानपुर: विकास प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1991, पृष्ठ 107

[lxxviii] रस्तोगी, डॉ. सुभाष, विष्णु प्रभाकर का साहित्य, प्रसंगवश से...

नोबेल पुरस्कार विजेता जर्मन लेखक व कवि ग्युंटर ग्रास की कुछ कवितायें

हवा मुर्गियों की ख़ूबियां – ग्युंटर ग्रास

रूपांतर – उज्ज्वल भट्टाचार्य

क्योंकि वे शायद ही कोई जगह घेरती हैं
गुज़रती हवा से बने अपने अड्डे पर
और चोंच नहीं मारती हमारी घरेलू कुर्सियों पर.
क्योंकि वे सपनों की कड़ी रोटियों को नकारती नहीं,
अक्षरों के पीछे दौड़ती नहीं,
जिन्हें डाकिया हर सुबह मेरे दरवाज़े के सामने गिरा जाता है.
क्योंकि वे खड़ी रहती हैं,
सीने से कलगी तक
सब्र भरी एक सतहत, बारीक लिखावट में,
कोई पंख छूटा नहीं, न कोई विराम चिह्न...
क्योंकि वे दरवाज़ा खुला रखती हैं,
कुंजी बना रहता है रूपक,
कभी-कभी कूं-कूं करती हुई.
क्योंकि उनके अंडे इतने हल्के हैं
और सुपाच्य, पारदर्शी.
किसने देखा होगा ऐसा लमहा,
जब ज़र्दी अघा चुकी हो, आंख-कान मूंदकर ख़ामोश पड़ चुकी हो.
क्योंकि यह शांति इतनी कोमल है,
वीनस की ठुड्डी के मांस जैसी,
पोसता हूं मैं उन्हें. –

पूरब की हवा में अक्सर,
जब बीच की दीवारें पलटती हैं,
एक नया अध्याय सामने आता है,
सुखी मैं झुका रहता हूं बाड़े पर,
जिसे मुर्गियों को गिनना नहीं, -
क्योंकि वे बेशुमार हैं और लगातार बढ़ाती जाती हैं अपनी तादाद.

.....

बाल गीत - ग्युंटर ग्रास

कौन हंसता है, हंसा यहां ?
हंसना तो हो चुका यहां.
हंसने वाले पर होता शक,
हंसता नहीं है वह नाहक़.

कौन रोता है, रोया यहीं ?
रोया जाएगा यहां नहीं.
रोता जो यहां, कहता है :
कारण रोने का रहता है.

बोला कौन, कौन चुप रहता ?
होगी रपट, जो कुछ न कहता.
बोले जो, वह छिपा रहा है,
बोलने का कारण कहां है.

कौन खेलता रेत के ऊपर ?
खड़ा होगा दीवार से सटकर.
दांव उसका ग़लत चल गया,
काम न आया, हाथ जल गया.

कौन मर रहा, मर चुका ?
दूसरों के सामने वह झुका.
बेदाग़ यहां जो मरता है,
बिला वजह वह मरता है.

रूपांतर – उज्ज्वल भट्टाचार्य

.....

बाढ़ – ग्युंटर ग्रास

हम बारिश थमने का इंतज़ार करते हैं,
हालांकि हम आदी हो चुके हैं,
पर्दे के पीछे खड़े रहने के, अदृश्य बनकर.
चम्मच हो चुकी है छन्नी, कोई हिम्मत नहीं करता
हाथ पसारने की.
तैरता है अब बहुत कुछ सड़कों पर,
सूखे दिनों में जिसे सावधानी से छिपाया जाता था.
कितनी शर्म की बात है पड़ोसी का इस्तेमाल किया
हुआ बिस्तर देखना.
अक्सर खड़े रहते हैं हम जलस्तर के पैमाने के सामने
और घड़ी मिलाने की तरह अपनी चिंताएं मिलाते हैं.
कुछ एक को दुरुस्त किया जा सकता है.
लेकिन जब पानी उफनने लगे, विरासत का घड़ा भर
चुका हो,
हमें भगवान की शरण में जाना होगा.
तहखाना है डूबा हुआ, बक्से हम ढो लाए हैं ऊपर
और जांच रहे हैं उनका सामान लिस्ट से मिलाकर.
अभी तक कुछ भी नहीं खोया है. –
चूंकि पानी जल्द ही उतर जाएगा,
शुरू कर दिया है हमने धूप के छातों को सिलना.
काफ़ी मुश्किल होगा, फिर से चौक से गुज़रना,
साफ़-साफ़, दबोचते साए से होकर.
हमें पर्दे की कमी शुरू में खलती रहेगी
और हम अक्सर तहखाने में उतरेंगे,
बाढ़ के पानी के छोड़े
दाग़ को देखने की ख़ातिर.

रूपांतर – उज्ज्वल भट्टाचार्य

.....

दोहरे बिस्तर में मसखरे सा - ग्युंटर ग्रास

अकेला अजीब सा पेश आता है,
अकेला नहीं रहना चाहता.

अकेला छलांग लगाता है,
छलांग के लिए तालियां चाहता है.

अकेले को खुद वह पसंद नहीं,
वह सुनता है, खुजलाने की आवाज़.

अकेला खरीदता है : घंटे, भोंपू,
ऐसी चीज़ें, जिनसे शोर हो सके.

अकेला घूमने जाता है, खुद से मिलता है.
दो के लिए खाने का आर्डर देता है.

अकेला अकेले सोता है
और किसी को परेशान नहीं करता.
.....
ऐसा तो हम नहीं चाहते थे,
त्रस्त होकर वे कहते हैं,
उनसे, जो खुद भी त्रस्त हैं :
त्रास के ऐसे मूल्यवान आंकड़े.
कभी न थी ऐसी टीआरपी रेटिंग.

हम बेचैन हैं ! कहा जाता है एकसाथ,
सुर मिलाती हैं दूसरी आवाज़ें, जो खुद बदहवास हैं.
बहुमत के साथ, आंकड़े कहते हैं,
बेचैन और बदहवास हैं हम.
और इसके बाद नई हासिल मज़बूती
और नुकसान की बातें,
जिनके साथ जीना है, कितना भी दुखद हो.

नये बहुमत ने हिम्मत बांधी है फिर से,
और उसे मात देना होगा नहीं आसान.
फिर भी इंसानों को, कहती है टिप्पणियां,
बदहवासी दिखाने का मौक़ा मिलना चाहिये; कम से
कम

शाम के समाचारों के बाद कभी-कभी.

.....

जवाबी क़दम

मुझे दोहराना पसंद नहीं,
कहा तोते ने : मुझे
दोहराना पसंद नहीं.

ईश्वर को साबित किया जा सकता है,
कहा पादरी ने, सायकिल पर चढ़ा
और उसने सबूत दे दिया.

ग़लती स्याही की है,
कहा जज ने
और दस्तखत कर दिया.

मेरा सिर दुखता है,
कहा मैंने
और जूते उतार दिये.

दयानंद कनकदंडे जी की अनुदित कविताएँ
अनुवाद – प्रेरणा उबाळे

डॉ प्रेरणा उबाले
सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभागाध्यक्षा
मॉडर्न कला, विज्ञान और वाणिज्य महाविद्यालय,
शिवाजीनगर, पुणे- ४११०३३
सं.नं.- ७०२८५२५३७८
prerana.ubale@yahoo.com

१. कचोट

भ्रमपूर्ण अतीत की
गहरी स्मृतियाँ
कभी-कभी
अचानक उभरकर
कचोटती हैं बहुत

पीछा ही नहीं छोड़ती .....

हमारे न रहने के बाद भी
वे रहती हैं क्या ?
..... पता नहीं .....
अब वही करें ऐसी प्रार्थना
कि
"विस्मृतियों के दोहद
लग जाए तुम्हें !"

काश !
मैं उसे बता पाऊं .....
अगर वह मिल जाए तो .....
अगर वह आती
तो
क्या भ्रम के अतीत की
गहरी स्मृतियाँ
जिन्दा रहती ? ? ?.....

२. पानी

पानी को लेकर विवाद होने पर
और भी कुछ खोजना था उसे
जन्म ....
मृत्यु ....
दुःख....
तृष्णा.....
वह खोजने निकला
और बुद्ध बन गया

आज और कल भी
पानी को लेकर
झगड़े होनेवाले हैं
पानी
हवा
और
बहुत कुछ
बिकेंगी वस्तुएँ
तब आप क्या करेंगे ?

३. गिरावट

किसान की आत्महत्या
बन जाती है एक खबर.....
किसी अखबार में
सेन्सेक्स के गिरने – उछलने
के बाद

जैसे छपते हैं
आंकड़े l

पर यह सच है
कि
किसान की आत्महत्याओं से
कभी सेन्सेक्स नहीं गिरता

वह तब गिरता है
जब किसानविरोधी सरकार
गिरने की स्थिति में
आ जाती है l

४. मुहर लगाएँगे

हम आसिफा के खूनी को
फाँसी पर चढाने के लिए कहते हैं.....

पटवर्धन मैम को
बंगले पर बुलाते हैं .....

रवीना को पूछा था –
गाजर जमीन पर उगते हैं या
जमीन के नीचे ?
और उसे बताया भी कि
उसे सिर्फ एक ही गाजर मालूम होगा ----

उन्होंने हमारी औरतों को भोगा
और अब हम तुम्हारी भोगेंगे
और
औरतें किसी की जागीर होती हैं
इस बात पर
मुहर लगा देंगे l

५. साम्राज्यवादी वैश्वीकरण

वसुधैव कुटुम्बकम

समूचा विश्व एक परिवार .....

परिवार कहें तो
सत्ता से सम्बन्ध आता है

अधिकार तो होगा ही
कुछ लोगों का l

आप ख्वामखा ही उन्हें बुरा कहते हैं

असल में
प्रधान सेवक
उन्हीं कुछ लोगों का सेवक होता है

उनकी सेवा में
कोई कमी ना रह जाए
हजारों पेड़ हमने काट दिए
तो क्या हुआ ?

समूचा परिवार ही विश्व परिवार है
तो फिर
"आदिवासी मूल निवासी हैं"
यह लोजिक
क्या मूर्खता नहीं दर्शाता ?.....